गाजीपुर में 'मानसी'

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवाद - सरजू तिवारी

[रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गाजीपुर में रचित और 'मानसी' में संकलित कविताओं का विश्वभारती द्वारा अनुमोदित अनुवाद]

गाजीपुर में 'मानसी'

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवाद

सरजू तिवारी

प्रकाशक :
त्रिपुरा रवीन्द्र परिषद
राधा मोहन ठाकुर सरणी
अगरतला–७९९ ००१
त्रिपुरा

प्रथम संस्करण :
मार्च, १९९२ ई०

प्रच्छादन :
श्री विमलकर

विक्रेता :
विश्वविद्यालय प्रकाशन
विशालाक्षी भवन
चौक, वाराणसी–२२१ ००१

मूल्य :
बीस रुपये

मुद्रक :
शीला प्रिण्टर्स, लहरतारा, वाराणसी

पूज्य छोटका बाबू पं० सीताराम तिवारी

की

पुण्य स्मृति को समर्पित

—बचवा

डॉ० सरजू तिवारी के
त्रिपुरा रवीन्द्र परिषद्, अगरतला द्वारा प्रकाशित
अन्य रवीन्द्र काव्यानुवाद :

१. अंतिम कविताएँ
मूल्य : ६ रुपये
(जुलाई–१९९१)

२. जन्मदिने
मूल्य : १० रुपये
(दिसम्बर-१९९१)

वितरक :
विश्वविद्यालय प्रकाशन
विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी–२२१ ००१

अनुक्रम

प्रकाशक की ओर से

त्रिपुरा रवीन्द्र परिषद की गतिविधिओं में अब रवीन्द्रानुवाद का नया आयाम जुड़ गया है। हिन्दी में काव्यानुवाद और काक बरक (त्रिपुरी भाषा) में गद्यानुवाद प्रकाशित करने की योजनायें कार्यान्वित की जा रही हैं। परिषद के आजीवन सदस्य और प्रमुख कार्यकर्ता डा० सरजू तिवारी ने 'अन्तिम कवि-ताएँ' के माध्यम से इस नये युग की शुरूआत की थी। उनका दूसरा प्रयास 'जन्मदिने' के रूप में पाठकों के सामने आया। आज उनके तीसरे प्रयास "गाजीपुर में 'मानसी'" को प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। परिषद को दृढ़ विश्वास है कि यह ग्रन्थ त्रिपुरावासियों और गाजीपुर वासियों के बीच मधुर संबंधों की एक नई कड़ी साबित होगा। भारतवासियों की भावात्मक एकता का प्रतीक तो यह है ही।

विश्वभारती विश्वविद्यालय ने अपने पत्रांक अनु/२७४७ दिनांक २-१-९२ द्वारा इस भाषांतर को अनुमोदित कर हमें प्रकाशित करने की अनुमति दी है। इस उदारता के लिए हम विश्वभारती के आभारी हैं। पुस्तक का सर्वाधिकार स्वेच्छा से परिषद को सौंप कर तिवारी जी ने हम सभी सदस्यों को पुलकित कर चिर ऋणी बनाया है।

'अन्तिम कविताएँ' और 'जन्म दिने' की जनप्रियता को देखते हुए हमें पूरा विश्वास है कि यह पुस्तक भी हिन्दी काव्यप्रेमियों में समादृत होगी। 'मानसी' रवींद्रनाथ का एक विख्यात विलक्षण ग्रन्थ है। इसके छंदों की विलक्षणता अनुवाद में भी सुरक्षित हैं। मूल बंगला की तरह ही अनुवाद से भी हिन्दी साहित्य में नई-नई प्रेरणाओं के स्रोत फूटने की संभावनाएँ हैं। रवीन्द्रनाथ को हिन्दी पाठकों तक पहुँचाना ही हमारा उद्देश्य है। विज्ञ पाठकों का आग्रह और सहयोग ही हमारा मूलधन है। उनकी उदारता ही हमारा संबल है। हमारे

मूलधन में बढ़ोतरी उनकी कृपा पर ही निर्भर हैं जो हमें इस प्रकार के नये-नये प्रयासों की ओर प्रेरित करेंगी ।

अनुवाद में छंद प्रसंग पर दो शब्द लिखकर ही हिन्दी पाठकों को बंगला छंदों के बारे में उत्सुक बनाने के लिए हम डॉ० रामबहाल तिवारी के आभारी हैं । पुस्तक का एक रोचक और भाव-गंभीर परिचय लिखने के लिए हम परिषद के एक प्रतिष्ठाता सदस्य श्रीयुत बिजनकृष्ण चौधुरी महोदय के प्रति भी आभार व्यक्त करते हैं ।

–ब्रजगोपाल राय
साधारण संपादक
त्रिपुरा रवीन्द्र परिषद्
अगरतला–७९९ ००१

दिनांक : १५-३-९२

आभार

उम्र दराज कवि गुरु के 'शेष लेखा' और 'जन्मदिने' का भाषांतर करने के बाद युवक कवि की कुछ कविताओं को अनुवाद करने की इच्छा हुई। गाजीपुर का बासिंदा होने के नाते 'मानसी' की ओर सहज ही आकर्षित हो गया। गाजीपुर प्रवास संबंधी तथ्यों को टटोलने पर ऐसा लगा जैसे युवक कवि वहाँ मधु चंद्रिका (Honey Moon) मनाने गये थे। उस दौरान लिखी कुछ कविताओं के भाव भी इसी ओर इशारा करते हैं। लेकिन प्रासंगिक विवरणों में इस शब्द का व्यवहार नहीं मिलता। लगता है, उन दिनों के सुसंस्कृत बंगाली परिवारों में इस शब्द को तब तक सामाजिक मर्यादा नहीं मिली थी। जो भी हो, पंद्रह वर्ष की किशोर बधू और पाँच माह की शिशु कन्या के साथ अपने भरे पूरे संयुक्त परिवार से दूर जाकर खुद की स्वतंत्र गृहस्थी बसाने का पहला अनुभव उन्हें यहीं हुआ। आमोद प्रमोद ही इस यात्रा और प्रवास का मुख्य उद्देश्य था।

'मानसी' का अनुवाद करने की मेरी मंशा की भनक मिलते ही मेरे परम सहृदय मित्र बिजनदास ने उन कविताओं को चिह्नित किया जो गाजीपुर में बैठकर लिखी गई थीं। स्वेच्छा से यह कार्य करने के बाद वे हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ गए। पद्य छंदों की नई-नई तकनीकों से समृद्ध इन कविताओं का अनुवाद करने की हिम्मत ही नहीं हो रही थी। उन्हीं के मधुर दबाव और उदार सहायता से प्रयास शुरू किया। उनके प्रति कृतज्ञता जताकर उन्हें छोटा बनाने में भी संकोच होता है।

हिन्दी की अपनी अल्पज्ञता के कारण एक विचित्र परेशानी में फँस गया। मेरी हिन्दी की गोद के लिए रवीन्द्र छंद बड़े शिशु साबित होने लगे। मेरे सामने दो ही विकल्प थे : (१) अपने अनगढ़ छंदों में ही रवीन्द्र भावों को ठूसना या (२) उन्हीं के छंदों और मात्रा गिनने के नियमों को अपना लेना। मैंने दूसरे विकल्प को चुनना ही श्रेयस्कर समझा। इससे अनुवाद में भी रवीन्द्र ध्वनियों की गूँज सुनाई पड़ने की सम्भावना बढ़ी है। आशा है पाठक इस प्रयोग को उदार दृष्टि से देखेंगे।

मेरे अनुवाद के झाड़-झंखाड़ को काट छाँट कर सुन्दर और सुडौल बनाने

के लिए डॉ० रामबहाल तिवारी ने अथक परिश्रम किया। अनुवाद में छंद प्रसंग पर दो शब्द लिखकर उन्होंने मुझे उत्साहित किया हैं। तिवारी जी के इस उदार अवदान का जिन्दगी भर ऋणी रहूँगा।

युवक रवीन्द्रनाथ के चित्र से प्रच्छादन को सजाने के लिए अपने चित्रकार मित्र बिमल कर का आभारी हूँ। मेरे पुराने छात्र हरिशंकर चक्रवर्ती और त्रिपुरा रवीन्द्र परिषद के कार्यकर्ताओं ने तरह-तरह से मेरी मदद की। ये सभी सहायक और शुभ चिंतक मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

मुद्रक और विक्रेता तथा इनके कर्मचारियों को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने मुझे पाठकों तक पहुँचाया है।

—सरजू तिवारी
त्रिपुरा विश्वविद्यालय
अगरतला-७९९ ००४

दिनांक : १५ मार्च, १९९२

अनुवाद में छंद-प्रसंग

अनुवाद भी एक तरह का रचना-कार्य ही है। अनुवादक के लिए मूल तथा अनुवाद की भाषाओं का अधिकारी और दोनों की नाड़ी-नक्षत्रों का पारखी होना जरूरी है। कविता के भाषांतर में तो अनुवादक की जिम्मेवारी और बढ़ जाती है। भाषा के साथ-साथ कवि के भावों को भी अच्छी तरह से अपना कर दूसरी भाषा में ढालना पड़ता है। कविता का भाषांतर अगर कविता में ही करना हो तो कठिनाई और बढ़ जाती है। इसी कारण कविता का कविता में अनुवाद कम पाया जाता है। सफल अनुवादकों की संख्या तो और भी कम है। पद्य-छंदों में लिखी कविताएँ भाषांतर के समय अनुवाद की भाषा के छंदों को ही अपना लेती हैं। यही साधारण परंपरा है। लेकिन कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद 'मन्दाक्रान्ता' छंद में भी पाया जा सकता है। इससे पता चलता है कि कविता के छंदों को बिना बदले भी उसका अनुवाद संभव है। लेकिन ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

आधुनिक भारत की लगभग सभी भाषाओं में रवीन्द्र-कविता का अनुवाद हुआ है। हिन्दी में तो रवीन्द्र-काव्यानुवाद की भरमार है। इनमें डॉ० सरजू तिवारी की देन भी सराहनीय है। लेकिन रवीन्द्र-भावों के साथ-साथ उनके छंदों को भी सही-सलामत रखते हुए काव्यानुवाद नहीं मिलते। इसके लिए हिन्दी काव्य-प्रेमी जगत में चाह तथा आशा बराबर बनी रही है। इतने दिनों बाद वह अभिलाषा साकार हो रही है। हिन्दी में रवीन्द्र-काव्य के प्रतिष्ठित अनुवादक डॉ० सरजू तिवारी ने महाकवि की 'मानसी' (सन् १८९० ई०) की गाजीपुर में लिखी हुई कुल २८ कविताओं का अनोखा हिन्दी-अनुवाद उपहार दिया है। इसमें मूल बंगला के छंदों को यथावत रखा गया है। कार्य तो कठिन है लेकिन अनुवाद में माहिर रवीन्द्रानुरागी ने इसमें भी सफलता हासिल की है। प्रमाण आप के हाथों में है। आग्रही पाठक अनुदित कविताओं के छंदों को मूल के छंदों से मिलाकर देखेंगे और प्रसन्न होंगे। इस निराले प्रयास के लिए अनुवादक बधाई के पात्र हैं।

रवीन्द्र काव्यों में 'गद्य-छंद' के अलावा तीन तरह के पद्य-छंद पाये जाते हैं : 'सरल कला मात्रिक' या 'अक्षर वृत्त' (Simple Moric Style), 'मिश्र

कला मात्रिक' या 'मात्रावृत्त' (Mixed Moric Style) तथा 'दल मात्रिक' (Syllabic Style) सरल कलावृत्त में लिखी हुई कविता खींचकर अथवा प्रसारित लय में पढ़ी जाती है। मिश्र कला वृत्त में खिंचे और अनखिचे ढंगों का मिश्रण रहता है। दल वृत्त कविता की लय अनखींची होती है। रवीन्द्रनाथ ने ही इन तीनों तरह के छंदों को आधुनिक ललित रूप प्रदान किया है। मिश्र कलावृत्त तो बहुत पुराना है, लेकिन सरल कलावृत्त और दलवृत्त को महाकवि ने ही उपयोगी वनाकर ऊँचे स्तर के काव्यों में अपनाया। उन्होंने 'मानसी' में ही सरल कलावृत्त का प्रयोग आत्म विश्वास के साथ पहली बार किया। भूमिका में कवि ने लिखा : "अपनी रचना के इस पर्व में ही मैं संयुक्त-अक्षरों को पूरा महत्व देकर छंदों को नई ताकत दे सका हूँ। 'मानसी' में ही छंदों के विचित्र रूप खिलने लगे। कवि के साथ मानो एक कलाकार आ मिला। अतः बंगला साहित्य में छंद-विचार की दृष्टि से 'मानसी' का अपना एक अलग महत्व-पूर्ण स्थान है। इसकी गाजीपुर में लिखी कविताओं के भाषांतर के माध्यम से अनुवादक ने इन नये बंगला छंदों को हिन्दी मे लाकर एक महत्वपूर्ण कार्य किया है। अनुदित कविताएँ मिश्र कलावृत्त और सरल कलावृत्त में लिखी हुई है। बंगला उच्चारण की विशेषता ही बंगला छंदों की नींव है। उन्हें हिन्दी में उतारना टेढ़ी खीर है। डॉ० तिवारी ने उसे सीधी करके हमें उपहार दिया है। अतः अनुवाद में मूल-स्वाद को भीं कुछ हद तक पाया जा सकता है।

छंदों की खातिर ही कहीं-कहीं अप्रचलित शव्द रह गये हैं, जो अनुभूति की राह से पाठक को महाकवि के पास पहुँचा देते हैं। इसी में अनुवादक डॉ० तिवारी की बेमिसाल सफलता झलकती है। इनके इस अनुकरणीय प्रयास से राष्ट्र की भावात्मक एकता में एक और कड़ी आ जुड़ी है। इसको हम जितना ही उपयोग में लायेंगे, उतने ही लाभान्वित होंगे।

उपरोक्त छंदों के कुछ उदाहरण बिजन बाबू ने अपने 'दो शव्द' में चिह्नित किया हैं। आग्रही पाठक इन्ही के सहारे अनुवाद में विखरे पड़े छंदों के विचित्र रूप देख सकते हैं।

इस अनोखे ढंग के अनुवाद कार्य के लिए डॉ० तिवारी को आंतरिक अभिनंदन ! यह अनुवाद समाहृत होगा—इसका मुझे पूरा विश्वास है।

बंगला विभाग
विश्वभारती
शांतिनिकेतन—७३१२३५

–रामबहाल तिवारी
२१-२-९२

दो शब्द

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'मानसी' काव्य-खण्ड की गाजीपुर में लिखी कविताओं के भाषान्तर के माध्यम से बन्धुवर सरजू तिवारी ने हम सभी को तथा खासकर गाजीपुर वासियों को अचरज में डालकर पुलकित किया है। 'मानसी' चढ़ती जवानी का ललित काव्य है। अनुवादक की ढलती जवानी की उपलब्धियों के मिलन से कविताओं के स्वाद में कुछ बदलाव आने की गुंजाइश है। वर्तमान सन्दर्भों के नये-नये अनुभवों के प्रभाव पड़ने की भी संभापना है। लेकिन अनुवादक ने इतने अनुशासित मन का परिचय दिया है कि कविताओं की मौलिकता पर इन बाधाओं का कोई खास असर दिखाई नहीं पड़ता। भाव तो भाव छन्दों को भी यथावत बनाये रखने में उनकी सफलता प्रशंसा की माँग करती है।

रवीन्द्र-काव्य-धारा में बार-बार बदलाव आता रहा है। 'मानसी' ऐसे ही एक बदलाव के समय की रचना है। इसके ठीक पहले 'कड़ी व कोमल' तथा तुरत बाद 'सोने की नाव' (सोनारतरी) प्रकाशित हुए थे। इस समय कवि-जीवन के वातावरण में भी तरह-तरह के बदलाव आ रहे थे। 'जीवन स्मृति' में उन्होंने खुद लिखा : "अबकी बार एक अध्याय खतम हुआ। अब अपनों के साथ परायों के भीतरी और बाहरी मेल-जोल के दिन क्रमशः सघन होते जा रहे हैं। अब तो जीवन सफर केवल जमीन के रास्ते जन बस्तियों के बीच से उनके भले-बुरे, सुख-दु:ख की उबड़-खाबड़ पगडंडियों से गुजरेगा। उसे अभी भी सिर्फ चित्र की तरह हल्की निगाहों से देखना समीचीन नहीं होगा। यहाँ कितने तोड़-जोड़, कितनी हार-जीत और कितने संघर्ष-सहकार हैं।" सन् १८८८ ई० में रवीन्द्र सत्ताइस साल के हुए। इसी सन्दर्भ में अपने एक मित्र को भेजे गये एक पत्र में उन्होंने लिखा : "सत्ताइस साल का होना क्या छोटी बात है ?....बीस के कोठे को आधे से ज्यादा लाँघकर तीस की ओर बढ़ना। ....अब तो फाँकी-मस्ती नहीं चलेगो।" अपने काव्य-जगत में हो रहे परिवर्तनों को देखकर उन्होंने लिखा : "यह पुरानो रचना धारा से स्वतन्त्र एक नये रूप का प्रकाश है।....नये परिधान में इन कविताओं में मानो सहसा नई देह धारण कर ली है।"

'मानसी' की कविताओं की रचना का समय सन् १८८७ से १८९० ई०

के बीच सीमित हैं। इन पर गौर करने से पता चलता है कि इनकी शुरुआत कलकत्ते में हुई थी। फिर गाजीपुर, महाराष्ट्र में शोलापुर-खिड़की, कलकत्ता, शान्तिनिकेतन होते हुए इंग्लैंड जाने की जहाज 'म्यासेलिया' और अपने देश लौटने की जहाज 'टेम्स'। गाजीपुर में कवि सन् १८८८ ई० के फागुन से क्वार की शुरुआत तक रहे। इसी बीच बैसाख से असाढ़ के दरम्यान २८ कविताओं की रचना किए। ये सभी कविताएँ शुरू में 'मानसी' काव्य खण्ड में संकलित हुई। अनुवादक ने हर कविता की रचना तिथि का उल्लेख किया है। बाद में चलकर इनमें से दो कविताएँ 'गुरु गोविंद' और 'निष्फल उपहार' एक दूसरे काव्य खण्ड 'कथा व कहानी' में सम्मिलित कर ली गई। 'मानसी' का संकलन किन्हीं कारणों से काल-क्रम के मुताविक नहीं किया गया है। अनुवादक ने भी संकलन के क्रम को ही अपनाया है।

उन दिनों गाजीपुर का सफर सहज नहीं था। हवड़ा से शाम को डाक गाड़ी से चलने पर दिलदार नगर पहुँचते-पहुँते दिन का तीसरा पहर हो जाता था। वहाँ से गाड़ी बदलकर ताड़ीघाट। ताड़ीघाट से स्टीमर के जरिए गंगा पार करने पर गाजीपुर। स्टीमरघाट से करीव एक घण्टे की यात्रा इक्के से। तब कहीं जाकर गोरा बाजार में ठहरने का बँगला। गाजीपुर भ्रमण का रोचक विवरण स्वर्ण कुमारी देवी के गाजीपुर के पत्रों में मिलता है। ये पत्र 'भारती' और 'वालक' में सन् १८८९ के ज्येष्ठ में प्रकाशित हुए थे। रवीन्द्र रचनाओं में इन पत्रों का उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन कवि के गाजीपुर सम्बन्धी कुछ मजेदार विवरण इन पत्रों में सुरक्षित हैं। एक उदाहरण "गाजीपुर दोपहर के सूरज के ठीक नीचे बसा है। अगर सबूत चाहें तो दोपहर के समय गाजीपुर के खेतों में जाकर खड़े हो जाइए। छाया आप के पैरों पर पड़ेगी। लेकिन ज्यादा देर तक खड़े रहने की राय नहीं दूँगा।"

कुछ दूसरे प्रासंगिक तथ्यों से पता चलता है कि गाजीपुर के अंग्रेज सिविल-सर्जन से उनकी काफी घनिष्ठता हो गई थी। रवीन्द्रनाथ अपनी कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद उनको सुनाया करते थे। यहीं उनकी विख्यात कविता 'निष्फल कामना' का पहला अंग्रेजी अनुवाद मिलता है। इस अंग्रेज़ी रूपांतर का शीर्षक था 'Desire for a human soul'। इसके वीस साल बाद 'गीतांजलि' का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ और कवि महाकवि के रूप में विख्यात हुए। गाजीपुर प्रवास के दौरान वे प्रतिदिन शाम को पैदल ही या कभी कभार गाड़ी से वहाँ के प्रसिद्ध दर्शनीय स्थान लार्ड कार्नवालिस के समाधि-उद्यान में जाया करते थे। कभी कभार गंगा में नौका-विहार पर भी निकल जाया करते थे।

'कवि बंधु' देवेन्द्रनाथ सेन के सम्पर्क में आना भी उनके गाजीपुर प्रवास का एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। रवीन्द्रनाथ ने इन्हीं को अपना अगला काव्य-संग्रह 'सोने की नाव' समर्पित किया। 'भारती' पत्रिका में प्रकाशित 'स्मृति' निवन्ध में देवेन्द्रनाथ लिखते हैं : "गाजीपुर प्रवास के दौरान ही रवि बाबू से मेरी घनिष्ठता हुई। वे दिन मेरे जीवन में आनन्द मुखर होली के दिन थे। नित्य उत्सव, नित्य त्यौहार। मैं अपनी अप्रकाशित नई कविताएँ रवि बाबू को सुनाता था। वे आनन्द विभोर होकर सुनते थे। उस समय रवि बाबू की दिव्य कान्ति की तरह ही मनोहर लगते थे—उनके गले के गीत और उनकी कविताएँ।"

एक और मजेदार प्रसंग है गाजीपुर से सम्बन्धित। यहीं पत्नी मृनालिनी देवी के साथ उनकी अपनी अलग गृहस्थी शुरू हुई थी। किशोर पत्नी का प्यार और देखभाल तथा कन्या माधुरी उर्फ बेला का संसर्ग तो मिला ही, इसी के साथ एक सुखकर खबर भी सुनने को मिली—वे एक और सन्तान के पिता होने जा रहे हैं। उनके ज्येष्ठ पुत्र रथीन्द्रनाथ ही वह सन्तान थे।

'गाजीपुर का इतिहास' नामक एक रोचक किन्तु काल्पनिक कहानी भी कवि ने गढ़ी थी जो मुँह-मुँह ही चलती रही लेकिन काफी जनप्रिय हुई। उसका बयान संक्षेप में कुछ इस प्रकार था :

'शायद सादात अली या मुराद खाँ, नहीं तो बलवन्त राव या विश्वामित्र के पिता गाधिराज ने पहली बार गाजीपुर को बसाया था। उसके बाद तीन-चार सौ साल तक क्या हुआ, किसी को नहीं मालूम। सफदर जंग ने जब हुजुरी मल के पेट में तीन-चार छूरे घोंपकर गाजीपुर का तख्त दखल कर लिया तब तक शालिबाहन, विक्रमादित्य, ईसामसीह की मृत्यु या मोहम्मद साहब के जन्म के आधार पर किसी शक, संवत्, ईस्वी या हिजरी की शुरूआत नहीं हुई थी। लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। इसी बीच यह सभी जान गये थे कि फजल अली इतना मोटा था कि अपना पैर देख ही नहीं सकता था। निगाहें उसके पेट पर ही अटक जाती थीं। पैरों तक पहुँचने का कोई रास्ता नहीं पाती थीं। उसके बड़े लड़के खानखाना ने उसका पेट काट कर रास्ता साफ कर दिया और खुद तख्तनशीन हो गया। बाद में इसी तख्त के लिए महमूद खाँ और अहमद खाँ में भयानक लड़ाई हुई। लेकिन मंत्री हामिद खाँ ने धोखा-घड़ी करके दोनों को मार डाला और गाजीपुर का बादशाह बन बैठा। इसके बाद बहुत से खाँ, अली, बक्स, उल्ला, मुल्ला, जहर, छूरा इत्यादि एक के

बाद दूसरे गाजीपुर दखल करते रहे। लेकिन शिक्षा निर्भर आमोद-प्रमोद की कोई बड़ी घटना कभी नहीं घटी। केवल १८८८ ई० में ऐसी एक घटना यहाँ घटी जो गाजीपुर के इतिहास में अमर रहेगी।"

शायद यह बताने की जरूरत नहीं है कि गाजीपुर में उनका प्रवास ही वह बड़ी घटना थी। कैसा आश्चर्य। किसे पता था कि मजाक में कही हुई यह बात सचमुच ही सही साबित होगी।

अब जरा कविताओं की ओर नजर डाली जाय। गाजीपुर के कुछ चित्रों के उदाहरण के जरिए आगे बढ़ा जाय।

(क) 'आकांक्षा' कविता में गाजीपुर के दोपहर का चित्र :

गंगा दूर, नाव नहीं, बालू उड़ रहा,

× × ×

सूखे गिरे पत्ते बिछे जनहीन रास्ता,
बन का उताल शोर दूर से है आता।

(ख) 'मरण-स्वप्न' में रात का दृश्य।

इस पार टूटा तट डालता है छाया,
ढलान उस पार है सफेद रेता में
चाँदनी में घुला मिला - फर्क नहीं दीखे भला !
वैसाख की गंगा क्षीण - काया
तीर पर मंद गति अलस लीला में

(ग) इसी कविता में फिर :

घनी छाया आम्रकुंज उत्तर किनारे—

× × ×

देखा आँखें खोल, वही बहती जाह्नवी
घर को पश्चिम में चलती है तरनी।
तट पर कुटिया में जलता चिराग धीमें,
नभ चन्द्र सुधा मुख की छबि।

(घ) 'कुहू ध्वनि' में तेज लहकते दोपहर का चित्र :

तेज दुपहरी तपे समूचा अंचल काँपे
भाप शिखा अग्नि - साँस ढाये,

× × ×

शीशम के पीले किसलय,
नीम पेड़ शाखें हरी गुच्छे गुच्छे फूल भरीं
आम बाग पीले फलमय।
गोलक, चम्पा के फूल गन्ध हिलोर आकुल,
आते बाग से वातायन को—
झाऊ गाछ छायाहीन साँस लेते उदासीन
शून्य में देखें निज मन को।

(ङ) इसी कविता में देखें घर-गृहस्थी का बिम्ब :

बैठी अपने अँगनें गेहूँ पीसें दो बहनें
गाती हैं गीत बिना थकान।
पक्का कुआँ तरु नीचे कन्या वहाँ पानी खींचे
तेज धूप से है मुख म्लान।
दूर नदी, बीच चर बैठ के मचान पर
अगोरें किसान निज खेती।
बच्चे चरवाहे आएँ खेलें कूदें नाचें गाएँ
दूर कहीं नायें हैं चलती।

'थकान', 'विछोह', 'सूरदास को प्रार्थना' आदि कविताओं में ऐसे बहुत से स्थानीय चित्र विखरे पड़े हैं।

गाजीपुर में रची इन २८ कविताओं का विषयवार बँटवार इस प्रकार किया जा सकता है :

(क) प्रकृति : 'अब और तब', 'प्रकृति के प्रति', 'मरण स्वप्न', 'कुहू ध्वनि', 'थकान', 'विछोह'।

(ख) : 'आकांक्षा', 'निष्ठुर सृष्टि', 'खाली घर में', 'मानसिक अभिसार', 'पत्र प्रतीक्षा', 'व्यक्त प्रेम', 'गुप्त प्रेम', 'प्रतीक्षा'।

(ग) जीवन दर्शन : 'जीवन मध्याह्न', 'बधू', 'सूरदास की प्रार्थना' 'गुरु गोविन्द', 'निष्फल उपहार'।

(घ) स्वदेश : 'दुरंत आशा', 'देश की उन्नति', 'बंग बीर', भैरवी गान', 'धर्म प्रचार', 'नव बंग दम्पत्ति का प्रेमालाप'।

(ङ) साहित्य : 'निन्दक के प्रति निवेदन', 'कवि के प्रति निवेदन', 'परित्यक्त'।

यह कहने की जरूरत नही है कि ये विभाग बिल्कुल कटे हुए नहीं हैं। एक का दूसरे से जुड़ा रहना ही स्वाभाविक भी है।

प्रकृति सम्बन्धी कविताओं में गाजीपुर के कुदरती दृश्यों को ही प्रधानता मिली है। पर इनसे जुड़े कवि मन के हर्ष-विषाद, आशा-निराशा तथा यादों के खिंचाव तनाव भी घुले मिले हैं।

प्रेम-कविताओं में प्रेम की बोझिल स्मृति, रहस्यमयता, विरह-मिलन के स्वभावव परिणाम, वास्तविकता और विछोह आदि के माध्यम से प्रेम के स्वरूप को तलाशने का सतत् प्रयास है।

दार्शनिक कविताओं में खुद की जिन्दगी और बाहरी दुनियाँ के कार्य-कलाप, प्रतिक्रियाएँ, निर्लिप्तता, ओछापन, दुःख-दर्द, सुख-विलास, निष्ठुरता, इन्द्रिय लगाव-दुराव, शान्ति की तलाश तथा सौन्दर्यानुभूति के विकास परिलक्षित होते हैं।

स्वदेश सम्बन्धी कविताओं में उस समय के जीवन में आई जड़ता, विचार-हीनता, संस्कार प्रियता और हीन सोच के अहं बोध इत्यादि पर जहाँ तीखे व्यंग किए गए हैं वहीं कठोर साधना के जरिए लड़ाई जीतने तथा सामाजिक पीड़ा मिटाने के प्रयास भी दिखाई पड़ते हैं।

साहित्य-समालोचना सम्बन्धी रचनाओं में कथानक की व्याख्या समालोचकों के व्यक्तिगत रुचि बोध के अनुसार करने की कुचेष्टा जिस तरह निन्दित हुई है, उसी तरह सहानुभूति और संवेदनशीलता की आधारभूत सम्भावनाएँ और एकमेव सौन्दर्य सृष्टि के प्रति लगाव भी व्यक्त हुए हैं।

यह कहने की शायद जरूरत नहीं है कि इन सभी विषयों पर कवि की दृष्टि का जाना किसी क्षणिक उत्तेजना का फल नहीं था। उनके परम्परा प्रदत्त जीवन मूल्यों और विश्व चेतना को जगाने की उनकी क्षमता का ही अभि-प्रकाश इन सौंदर्य-सर्जनाओं में हुआ है।

कविता का विषय गौरव जो भी हो, उसे सचमुच कविता हो उठने के लिए जिस सृजनशक्ति, पटुता, अनुभूति और नीति बोध की जरूरत होती है, 'मानसी' में उसका परिपक्व रूप पाया जाता है। यही कहकर कुछ लोग इसे रवीन्द्रकाव्य के एक महत्त्वपूर्ण मोड़ के रूप में चिह्नित करते हैं। इस बात की चर्चा पहले ही की जा चुकी है कि कवि खुद भी इस धारणा के एक स्रष्टा हैं।

कुछ छिट-पुट उदाहरणों से पाठक को भी कवि की शब्दनिर्माण की प्रज्ञा और क्षमता में सहभागी बनाया जा सकता है।

(क) 'वर्षा बिखेरी अपनी मेघमय वेणी' (अब और तब)

(ख) 'बचनों में पड़ती नील घन की छाया' (आकांक्षा)

(ग) 'दूर-दूर तक फैली खिन्न दुपहरी' (जीवन मध्याह्न)

(घ) 'मानस मूरति पा मुझे व्याकुल जहाँ
बाँधती देह विहीन स्वप्न मिलन में' (मानसिक अभिसार)

(ङ) मैं सभी के बीच फिरूँ अकेल' (वधू)

(च) 'घड़े से लग लहरें टूटें,
चूर-चूर हो किरणें लूटें, (प्रतीक्षा)

(छ) 'तेल पिलाया स्निग्ध तनु
निद्रा रस लीन' (दुरन्त आशा)

(ज) 'घुसे शरीर में ज्योत्स्ना प्रवाह
किसे पता यह फेर' (सूरदास की प्रार्थना)

(झ) 'मृत्यु लांघते सैकड़ों बार
गिरता जीवन पार' (गुरु गोविन्द)

(ञ) 'कुशाग्र हीरों के मुँह घूमें बार-बार
करते रहें किरण छूरियों से वार' (निष्फल उपहार)

इन विलक्षण शब्द प्रतिमाओं में जो अनिर्वचनीयता फुटती है वह निर्भर करती है कुछ शब्दों या शब्द-गुच्छों के जमघट में। फिर भी यह बाह्य है। 'मानसी' का असली महत्त्व है उसका अन्तर्मुखी होना। सुधीन दत्त की राय में यह सूक्ष्म, व्यक्तिनिरपेक्ष और उदासीनता के विषाद में सना हुआ आत्मोपलब्धि का काव्य है। पहले के काव्यों से इसका यही मौलिक अन्तर है। इस आत्मोपलब्धि में सांसारिक दुख दर्दों का तीव्र पुट है, जो मुख्य रूप से कादम्बरी देवी की अकाल मृत्यु की यादों की छटपटाहट से निकलता है। [कादम्बरी देवी रवीन्द्रनाथ की भाभी थी जिनसे उनका लगाव बहुत ज्यादा था।] लेकिन वह जीवनोमुखी उत्तराधिकार से निकली दुख दर्द निवारिणी प्रशान्ति द्वारा नियंत्रित भी है।

'मानसी' की कविताओं के विलक्षण होने का दूसरा कारण है छंद मुक्ति का प्रसंग। यह मुक्ति दो तरह की है।

१. मात्रा छन्दों में संयुक्ताक्षरों की स्वतन्त्र मर्यादा।

२. स्तवकों की रचना में विविधता का विधान और तुकवन्दी में फेरबदल। संयुक्ताक्षर के ठीक पहले वाले स्वर के लिए दो मात्रा का विधान बँगला काव्य का एक बड़ा आविष्कार है। रवीन्द्रनाथ ही इसके आविष्कारक हैं। मात्रा छन्दों के प्रसंग में इसी जड़ता के कारण 'मानसी' से पहले की कविताओं में संयुक्ताक्षरों के व्यवहार से बचने के लिए जी जान से कोशिश की जाती थी। बहुत जरूरी होने पर ही उनका व्यवहार किया जाता था और वह भी एक मात्रिक रूप में ही। जैसे 'कड़ी व कोमल' की आह्वानप्रगीत में देखिये;

संकट कितने, कितने संताप
मानव शिशु खातिर,

× × ×

ईर्ष्या निशाचरी छोड़ती निश्वास
हृदय के मँझधार।

यहाँ संकट, संताप और निश्वास में तीन मात्रे तथा ईर्ष्या में दो मात्रे गिने गए लगते हैं। लेकिन 'मानसी' में देखिये;

अति असह्य अग्नि दहन
मर्म बीच मैं करूँ वहन,
कलंक राहू प्रतिपल हाय !
जीवन करता ग्रास।

यहाँ असह्य और कलंक में चारे मात्रे तथा अग्नि और मर्म में तीन मात्रे गिने गए हैं। कुछ समालोचक इस परिवर्तन को युग परिवर्तन का सूचक मानते हैं।

स्तवक रचना की विविधताओं और तुकबन्दी को रीतियों में परिवर्तन के कुछ उदाहरणों पर गौर करना भी उचित लगता है :

(क) चार पंक्तियों के स्तवक : तुक बन्दी—१, ४; २, ३
छन्द विभाग : ८–६।८।८।८–६ : अक्षरवृत्त छन्द :

वर्षा बिखेरी अपनी मेघ मय वेणी।
घनी छाया दिन भर,
ताप हीन दो पहर,
श्यामलतर दीखती श्याम वन श्रेणी। (अब और तब)

(ख) पाँच पंक्तियों के स्तवक : तुक बन्दी—१,३,४;२,५

छन्द विभाग : ८–१०।८–१०।८।८।८–१० : अक्षरवृत्त छन्द

लगता ज्यों सृष्टि पर नियमों की बेड़ी नहीं चढ़ी,
आना जाना मेल जोल सभी संयोग वश घटते।
अभी तोड़ी, अभी गढ़ी,
अभी उठी, अभी पड़ी—
ध्यान नहीं देता कोई किसे कहाँ दुख दर्द होते। (निष्ठुर सृष्टि)

(ग) आठ पंक्पियों के स्तवक : तुक बन्दी—२,४,८;५,६

छन्द विभाग : ८–६।६।८।६।६।८।८।८।६ : अक्षरवृत्त छन्द

सैकड़ों प्रेम दामों से खींचती हो दिल—
ये क्या खेल तेरे ?
कोमल ये छोटे प्राण, इन्हें बाँधने को
क्यों इतने डोरे ?
हर पल है घूमती
स्नेह - प्रेम को छलती,
चाहती न देना प्यार
मन क्यों जीते रे ? (प्रकृति के प्रति)

(घ) चार पंक्तियों के स्तवक : त्रिपदी : तुक बन्दी—$\frac{१}{२}$, १, १$\frac{१}{३}$; २, ४; २$\frac{१}{२}$, ३, ३$\frac{१}{२}$

छन्द विभाग : ८।८।८।६ : अक्षरवृत्त छन्द

घने गूँजते रव में झींगुर बोलें बन में
कौन मिलाए उनमें स्मृति कंठ स्वर।
तीर तरु की छाहों में मृदु सांध्य हवाओं में
कौन छुआए अंगो में कोमल सा कर। (पत्र प्रतीक्षा)

(ङ) अनियमित स्तवक : मुख्यतः चार पंक्तियों के लेकिन ९ पंक्तियो तक गए हैं। तुक बन्दियों में भी विविध विचित्रतायें हैं।

एक उदाहरण—वधू, छन्द विभाग : ७–५।७–७ : मात्रावृत्त छन्द

''समय ढल चला, जल को चल ॥
पुराना वही सुर— कोई बुलाए दूर,

कहाँ वो छाया सखी, कहाँ वो जल !
कहाँ वो बँधा घाट, पीपल - तल !
थी तो उदास भलीं घर में भी अकेली,
किसने बुलाया रे 'जल को चल' ।

छंद मुक्ति और तुक वंदी की इस तरह की नाना विभिन्नताएँ इस पुस्तक में भरी पड़ी हैं। इस प्रकार के अनेक कारणों से यह रवीन्द्र काव्य का एक उल्लेख योग्य व्यतिक्रमी काव्य संकलन है। इससे रविन्द्र काव्यधारा के सैकड़ों स्रोत फूट पड़े हैं। यह कहने की जरूरत नहीं है कि कवि के प्रवास के दौरान गाजीपुर में इस तरह की परीक्षा निरीक्षा के उपयुक्त साधन मौजूद थे। अवकाश और निःसंगता तथा उनके अनगिनित निकट जनों की सहायता इसके प्रधान अवयव थे। गाजीपुर में उनसे मिलने आने वालों में स्वर्णकुमारी देवी, इंदिरा देवी, सरला देवी और सुरेन्द्रनाथ जैसी साहित्यिक हस्तियाँ शामिल हैं। गाजीपुर प्रवासी 'कवि भाई' देवेन्द्रनाथ सेन तो उनके संगी ही थे। लेकिन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था घर से दूर जाकर स्त्री और कन्या के साथ पहली बार स्वतंत्र और अकेले गृहस्थ जीवन यापन का परिमंडल।

त्रिपुरा रवीन्द्र परिषद पिछले तीन दशकों से भी ज्यादा समय से रवीन्द्र-चर्चा और उनकी भावधारा के प्रचार-प्रसार में लगा हैं। बंधुवर तिवारी इस परिषद के वफादार कार्यकर्ता हैं। इसके पहले अपनी 'अन्तिम कविताएँ' और 'जन्मदिनें' उपहार देकर उन्होंने हम लोगों को तृप्त तो किया ही था साथ ही एक नये युग की शुरुआत भी की थी। सुनने में आया है कि और कुछ काव्य खंडों के अनुवाद प्रकाशित होने के लिए काल गर्भ में प्रतीक्षा रत हैं। इस मौके का लाभ उठाते हुए हम परिषद के सभी सदस्यों की ओर से उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

१०-३-९२ —बिजनकृष्ण चौधरी

त्रिपुरा रवीन्द्र परिषद
राधामोहन ठाकुर सरणी
अगरतला–७९९००१

सूचना

बचपन से ही पश्चिमी हिन्दुस्तान मेरे लिए रूमानी कल्पना का विषय था। यहीं विदेशियों के साथ इस देश का लगातार संपर्क और संघर्ष होता रहा है। यहाँ ही सदियों से इतिहास की विराट-पट-भूमि पर बहुत से साम्राज्यों के उत्थान-पतन और नये-नये ऐश्वर्यों के विकास-विलय अपने विचित्र रंगीन चित्रों की कतार बनाते जा रहे हैं। बहुत दिनों से सोच रहा था कि इसी पश्चिमी हिन्दुस्तान की किसी एक जगह कुछ दिन रहकर विराट, विक्षुब्ध अतीत का स्पर्श दिल में महसूस करूँ। आखिर में एक बार सफर के लिए तैयार हुआ। इतनी जगहों के बावजूद गाजीपुर को ही क्यों चुना—इसके दो कारण हैं। सुन रखा था कि गाजीपुर में गुलाब के बगीचे हैं। मैंने मन ही मन जैसे गुलाब-विलासी सिराज का चित्र बना लिया था। उसी का मोह मुझे बहुत जोरों से खींचता रहा। वहाँ जाकर देखा—व्यापारियों के गुलाब के बगीचे! वहाँ न तो बुलबुलों का बुलावा है न कवियों का। खो गई वह छवि। दूसरी ओर, गाजीपुर के महिमा मंडित प्राचीन इतिहास के कोई बड़े निशान देखने को नहीं मिले। मेरी निगाहों में उसका चेहरा एक सफेद साड़ी पहनी विधवा सा लगा, वह भी किसी बड़े घर की नहीं।

फिर भी गाजीपुर ही रह गया। इसका एक बड़ा कारण यह भी था कि मेरे दूर के रिश्तेदार गगनचन्द्र राय यहीं अफीम विभाग में बड़े अफसर थे। उनकी मदद से मेरे यहाँ रहने का इन्तजाम बड़ी आसानी से हो गया। एक बड़ा सा बंगला मिल गया, गंगा-तीर पर ही, ठीक गंगा-तीर पर भी नहीं। करीब मील भर का लम्बा रेता पड़ गया हैं। उसमें जौ, चने और सरसों के खेत हैं। गंगा की धारा दूर से दीखती है। रस्सी से खींची जा रही नावें मंद गति से चलती हैं। घर से सटी काफी जमीन परती पड़ी है। बंगला देश की मिट्टी होती तो जंगल हो जाता। निस्तब्ध दोपहर में कुएँ से कलकल शब्द करती हुई पुर चलती है। चम्पा की घनी पत्तियों में से दोपहर की धूप जली हवाओं से होती हुई कोयल की कूँक आती है। पश्चिमी कोने पर एक बहुत बड़ा और पुराना नीम का-सा पेड़ है। उसकी पसरी हुई घनी छाया में बैठने की जगह है। सफेद धूलों से भरा रास्ता घर के बगल से चला गया है। दूर पर खपड़ैल के घरों वाला मुहल्ला है।

गाजीपुर दिल्ली-आगरा के समकक्ष नहीं है। सिराज-समरकंद से भी इसकी तुलना नहीं चलती। फिर भी अवाध अवकाश में मन रम गया। अपने एक गीत में मैंने कहा है—"मैं सुदूर का प्यासा!" परिचित दुनियाँ से यहाँ आकर मैं उस दूरी से ही घिर गया। आदत के भारी हाथों को पकड़ के बाहर होते ही मन को आजादी मिल गई। इस वातावरण मे मेरी काव्य-रचना का एक नया पर्व अपने आप ही उभर आया। अपनी कल्पना पर नये-नये परिमंडलों का प्रभाव पड़ते मैंने बार-बार देखा है। इसी से जब अल्मोड़ा में था, मेरी कलम ने 'शिशु' की कविताओं की ओर हठात् नई राह ली। हालांकि उस तरह की कविताओं की प्रेरणा का कोई उपलक्ष ही वहाँ नहीं था। यह पहले की रचना धारा से स्वतंत्र एक नये काव्य-रूप का प्रकाश था। 'मानसी' भी वैसी ही है। नये वातावरण में मानो इन कविताओं ने सहसा नई देह धारण कर ली है। पहले की 'कड़ि व कोमल' के साथ इसकी कोई खास समानता नहीं मिलेगी। मेरी रचनाओं के इसी पर्व में संयुक्त अक्षरों को पूरा महत्त्व देकर छंदों को नई ताकत दे सका हूँ। 'मानसी' में ही छंदों के नये-नये स्वरूप आने लगे। कवि के साथ जैसे एक कलाकार आ मिला।

–रवीन्द्रनाथ ठाकुर

१

अब और तब

वर्षा बिखेरी अपनी मेघमय वेणी।
घनी छाया दिन भर,
तापहीन दोपहर,
श्यामलतर दीखती श्याम वनश्रेणी।

आज ऐसे दिन में याद आये मन में।
वही दिवा - अभिसार
बावरी राधा का प्यार
पता नहीं कब के दूर वृन्दावन में।

ऐसी ही हवा बहती ठहर - ठहर।
ऐसी ही अथक वृष्टि,
तड़ित् - चकित - दृष्टि,
होता रमणी हिया, हाय, यों ही कातर।

विरहिणी मर्म-भरी, मेघ मन्द्र स्वर।
आँखें नहीं झपकतीं,
व्योम देखती रहतीं,
रचतीं प्राणों की आशा जलदों के स्तर।

देखती पथिक वधू खाली रास्ते पर।
गाते ये कौन मल्हार,
झरती वरषा धार,
जा चुभती प्राणों में अतिशय कातर।

गोद वीणा यक्षनारी भूमि में विलीन;
सीने पर रूखे केश,
ढीले - ढाले सारे वेश,
ऐसा ही था उस रोज अंधकार दिन।

वही तो कदम्ब तल, यमुना का तीर,
वही वह मोर नृत्य
अभी भी हरता चित्त—
डालता छाया-विरह सावन तिमिर।

आज भी है वृन्दावन मानव मन में।
शरत पूर्णिमा पर
सावन की वर्षा भर
उठती विरहगाथा वनोपवन में।

अभी भी बजती है बंशी यमुना तीरे।
चलती प्रेम की लीला
सारी रात, सारी वेला
आज भी रो मरती राधा हृद्-कुटीरे।

२१ बैसाख, १८८८]

•

२
आकांक्षा

तेज नभ पुरुवा बह रही है जोर,
ढाँपे हैं उदय-पथ नील घन घोर।
गंगा दूर, नाव नहीं, बालू उड़ रहा,
बैठे - बैठे मैं सोचता—आज कौन कहाँ।

सूखे गिरे पत्ते बिछे जनहीन रास्ता,
वन का उताल शोर दूर से है आता।
नीरव प्रभात पंछी, काँपे नीड़ जहाँ,
मन में सदा सोचता—आज वह कहाँ।

पास थे कितने दिन, कहे कुछ नहीं,
एक पीछे दूजे दिन बीत गये यूँ ही।
कितने हँसी-मजाक, वाक्य बाणाघात,
उसी बीच होती रही, दो दिलों की बात।

लगता है आज अगर फिर आती वो,
कह देते सारी बातें, मेरे दिल में जो।
वचनों में पड़ती नील घन की छाया,
गूँजती रहती आवाजों में नम हवा।

घनी करता स्तब्धता दूर का तूफान,
नदी - तीर - मेघ - वन सब एक तान।
बिखर जाते बाल उसके मुख पर,
आँसू जल रुकते आँखों में भरकर।

जीवन मृत्यु भरे ये गम्भीर वचन,
वन मरमर ज्यों मर्म की तड़पन,
इह - परलोक व्यापी सुमहान प्राण,
उफनती ऊँची आस बड़प्पन - गान,

लम्बी-दुख-दर्द-छाया, विरह गंभीर,
ढके हृदय में बन्द आकांक्षा अधीर,
वाणी अतीत जितने अस्फुट वचन—
फैल जाते बादलों सा घेरते निर्जन।

आती है दिन के बाद जैसे खासी रात
दीखती है दुनियाँ ग्रह - तारों के साथ,
हँसी-मजाक मुक्त मेरा दिल निहार
देखती वो अन्तहीन जगत - विस्तार।

नीचे सिर्फ खेलवाड़ हँसी कोलाहल,
ऊपर निर्लिप्त शान्त आकाश अचल।
दीखें प्रकाश में सिर्फ क्षणिकों के खेल,
मैं खड़ा अँधियारे में असीम अकेल।

रहा मैं कितना छोटा देख चली गई,
मामूली-सी बात कितनी छोटी विदाई।
कल्पना का राज्य उसको नहीं दिखाया,
निर्जन-आत्मा के अँधेरे नहीं बिठाया।

इस एकाकी, स्तब्ध, महत्ता के भीतर
दो चित्त विराजें गर रात-रात भर–
बेहँसी बेशब्द सारा व्योम दिशा खोया,
प्रेमभरी चारों आँखों जागें पुत्तलियाँ।

न थकान, न-ही तृप्ति, बाधाहीन पथ,
व्यापता जाता जीवन जग से जगत–
दोनों प्राणतंत्रियों से पूर्ण एक तान,
उठें असीम के सिंहासन प्रति गान।

२० बैसाख, १८८८]

•

३
निष्ठुर सृष्टि

लगता ज्यों सृष्टि पर नियमों की बेड़ी नहीं चढ़ी,
आना - जाना मेल - जोल सभी संयोगवश घटते।
अभी तोड़ी, अभी गढ़ी,
अभी उठी, अभी पड़ी—
ध्यान नहीं देता कोई किसे कहाँ दुख - दर्द होते।

लगता है जैसे उन्हीं तहशून्य अबाध पथों से
आ पड़ा अचानक हाय! सृजन का बाढ़ संयोग—
अनजाने शिखरों से
सहसा तेज वेगों से
दौड़े आये सूर्य-चन्द्र और भी लाखों-करोड़ों लोग।

कहीं पड़े प्रकाश तो कहीं अँधेरी रात केवल,
कहीं है सफेद गाज, और कहीं भँवर पंकिल।
'सृष्टि में विनाश घोल'
सभी ओर धावा बोल—
अनंत प्रशांत शून्य लहरों से करता फेनिल।

हम तो कूड़े-करकट धारा में बहते चलते,
आधी पलक भी हाय! कहीं रुकने की ठाँव नहीं।
डूबते और उठते
बार-बार हैं गिरते—
आये थे जो पास अभी वे अब तो नजदीक नहीं।

सृष्टि-धारा-कोलाहल, किसका कौन विलाप सुने,
दुनियाँ अपनी गर्जन से खुद है बनी बधिर।
ये हाहाकार प्रचुर
रचते हैं मीठे सुर—
फुर्सत नहीं मुड़ देखने की चलते हैं अधीर।

हाय स्नेह, हाय प्रेम, हाय रे तू मानव-हृदय,
झर पड़ा है किस नंदनवन के तट तरु से?
जिस हेतु सदा भय,
स्पर्श जिसका असह्य,
सृष्टि-स्रोत में ऐसी जड़ता के कौन बहाया उसे?

क्या तुम सुन रहे हो, हे विधाता, हे अनादि कवि,
मानव-शिशु छोटा-सा रचता है प्रलाप जल्पना?

सत्य है वो शांत छवि
मानो सबेरे का रवि
तोड़े गढ़े उसीके नीचे झूठे ही कुहक कल्पना।

१३ वैसाख, १८८८]

•

४
प्रकृति के प्रति

सैकड़ों प्रेमदामों से खींचती हो दिल—
ये क्या खेल तेरे ?
कोमल ये छोटे प्राण, इन्हें बाँधने को
क्यों इतने डोरे ?
हर पल है घूमती
स्नेह-प्रेम को छलती,
चाहती न देना प्यार
मन क्यों जीते रे ?

खोजता फिरता हूँ, दिल कहाँ है तेरा
बेदर्दी प्रकृति !
इत्ते फूल, इत्ती आभा, इत्ते गंध गीत,
है कहाँ रे प्रीति !
रूप राशि में अपनी
छिपी हँसती कितनी,
हम सभी रो - रो मरें
यह कैसी रीति !

शून्य क्षेत्र में रात-दिन मन ही मन
कौतुकों के खेल।
समझ नहीं सकता, किसे प्यार तेरा
किसे अवहेल ।

प्रातः जिसके ऊपर
ज्यादा स्नेह समादर,
मिलाती उसे धूल में
उसी संध्या ठेल।

फिर भी करता प्यार तुझे, भूलूं कैसे
अरे मायाविनी।
वेस्नेह गले - मिलना जगाए दिल में
हजारों रागिनी।

सुख - दुख - शोक में
जिंदा हूँ दिवालोक में,
चाहूँ नहीं हिमशान्त
अनन्त यामिनी ।

अध - ढका अध - खुला है मुखड़ा तेरा
रहस्य आलय
लाता प्रेम के दुख-दर्द दिल के बीच,
साथ लाता भय ।

समझूं नहीं तेरे ये
भाव कित्ते नये - नये,
हँस - हँस रो - रो प्राण
होते पूर्णमय ।

प्राण - मन खोलकर दौड़ूं तेरी ओर,
ना जानूं पकड़ ।
दिखाई देती मंद - मंद कौतुकी हँसी,
लाल होंठों पर।

चाहूँ गर दूर जाना—
लाती अड़चनें नाना
कित्ती छली, बली है तू
चंचल - मुखर ।

जानती नहीं तू, खुद ही अपनी सीमा,
रहस्य अपने ।
तभी अँधेरी रात में जब सातों लोक
देखते सपने,

चुपचाप कुतूहली
भर देती नभ तली,
लाखों - लाख जलाकर
तारका - किरणें ।

फिर कहीं बैठी रोती हो चिर अकेली,
चिर मौनव्रता ।
चारों ओर पेड़-पालो हीन निदारुण
मरु निर्जनता ।

सूर्य - चन्द्र सिर पर
उगें युग - युग भर
चले जाते सिर्फ देख,
बिन कहे कथा ।

कहीं फिर खेलती हो बच्ची की तरह,
उड़ें केश वेश—
उफनती हैं हँसियाँ जैसे उत्सवों से,
नहीं लज्जा लेश ।

रोक न सकते प्राण
खुद के ही परिमाण,
इत्ती बातें इत्ते गान
होते नहीं शेष ।

कभी फिर हिंसा भरे उन्माद नयन
पलकों को फाड़,
भूवक्ष पर अनाथ, अग्नि - अभिशाप
करते प्रहार।

तो भी संध्यालोक में
उदासी भरे शोक में
तोपे मुख, म्लान छाया
करुणा संभार।

तभी तो किया है बस में इसी तरह
अनगिने प्राण।
युग - युगांतों से आ रहा सतत नया
मधुर बयान।

मायावी वेश धरती
सभी के साथ रहती
तो भी न दिया किसीको
अपने को दान।

जित्ता ही अंत न पाऊँ, खींचे ज्यों उत्ता ही
महारूप रंग।
दुख - दर्द जित्ता पाऊँ, प्रेम बढ़े उत्ता
हँस - रो अभंग।

दूर तू जाती जितना
प्राण फाँसती उतना,
जित्ता तुझे ना समझूँ
उत्ता ही मैं दंग।

१५ बैसाख, १८८८]

•

५
मरण स्वप्न

अन्हार पख एक्कम। पहली साँझ में
मलिन चाँद निकला गगन कोन में।
छोटी नाय थर-थर चलती है पाल पर
तैरती है ज्यों काल स्रोत में
आलसी भाव जैसे अध - जागे मन में।

इस पार टूटा तट डालता है छाया,
ढलान उस पार है सफेद रेता में
चाँदनी में घुला-मिला— फर्क नहीं दीखे भला!
बैसाख की गंगा क्षीण - काया
तीर पर मंद गति अलस लीला में।

पूरब के स्वदेश से समीर बहता
मानो सुदूर जनों के विरह की साँस।
जगती आँखों के आगे कभी-कभी चाँद जागे
प्रिय मुख भी कभी दीखता—
आधा उल्लसित मन आधा है उदास।

घनी छाया आम्र कुंज उत्तर किनारे—
जैसे सच नहीं सब, यादगार बन।
तरु, तट, घर, पथ, चाँदनी में चित्रवत्—
दिखे नीर में नभ नीला रे
छाया लगती माया जग की चितवन।

स्वप्नाकुल आँखें मूँदे सोचता मन में—
राजहंस तैरता अपार गगन में
खोले लम्बे सादे पंख चंद्रमा ओर निःशंक—
पीठ पर मैं तृप्त मस्ती में,
मृत्यु सम घोर नींद आ रही सुख में।

लगता प्रहर नहीं है, न है प्रहरी
मानो यह दिन बिना रजनी अनंत।
निखिल निर्जन, स्तब्ध, सिर्फ सुनूं जल-शब्द
कलकल - कल्लोल - लहरो—
निद्रा पारावार मानो स्वप्न चंचलित।

कित्ते युग बीत चले पाया नहीं दिशा—
विश्व जैसे बुझा-बुझा, दीप तेल हीन।
ग्रासती आकाश काया फिर पड़े महाछाया,
नत सिर जगव्यापी निशा
गिन रहा है मृत्यु पल एक-दो-तीन।

होते-होते क्षीण शशि आड़ में जा लुके,
हल्की होकर कलध्वनि मौन हो जाती।
प्रेत नयनों की भाँति अपलक तारा पाँति
मिल के सभी मुझे ही देखें,
मैं ही अकेले सारे नभ में प्राण-ज्योति।

चिर युगीन रातों में सौ करोड़ तारे
बुझ गये एक-एक कर आकाश में।
जी जान से घूरें वहीं आँखों में प्रकाश नहीं,
सकें न वेध आँखों के तारे
कठोर बर्फीली मृत्यु हिम तामस में।

बेजान विहंग पंख झूलते आते हैं,
लोटती लम्बी गर्दन—उतरा है हंस।
सतत आयुत अब्द सों सों पतन के शब्द
कान - कुहर अकुलाते हैं,
कराल रात हो जाती टूट के दो अंश।

याद सहसा पा इस जीवन की खोज
चट उभर आई रहने एक क्षण
छोड़ मुझे बहु दूर जा गिरी हो चूर-चूर,
दौड़ता मैं पीछे-पीछे रोज—
देख नहीं पाता हूं पर एक भी कण।

रख नहीं सकता कहीं भी देह भार,
सुन्न थके अंग सब ढो लौहपंजर।
नहीं साँस न-हीं स्वर, कातर पुकारूँ पर
हुआ कंठ रुद्ध अंधकार—
विश्व का प्रलय है सिर्फ मेरे अन्दर।

दीर्घ तीक्ष्ण बना क्रम में तीव्र चाल से
तेज गति झंझाओं के आर्तनाद सम,
सूक्ष्म तीर सुई नोक अनंत काल में भोंक
फाड़ता चले मानो वेग से—
रेखा बन मिल जाता देह-मन मम।

खो गई क्रमशः सारे समय की सीमा,
अनंत औ मुहूर्त का भेद मिट गया।
व्याप्तिहीन शून्य सिंधु जैसे सिर्फ एक बिन्दु
अति गाढ़ी आखिरी कालिमा—
वो बिन्दु-पारावार मुझे निगल गया।

अन्धकार हीन हो गया है अन्धकार।
'मैं' नाम का कोई नहीं फिर भी मानो है।
अवचेतना में अंधी चेतना पड़ी है बन्दी,
करती किसका इन्तजार
मरकर भी प्राण ज्यों चिरकाल रहे।

देखा आँखें खोल, वही बहती जाह्नवी–
घर को पश्चिम में चलती है तरनी।
तट पर कुटिया में जलता चिराग धीमे,
नभ चन्द्र सुधा मुख छवि।
गोद लिए सोते जीव जागती धरणी।

१७ बैसाख १८८८]

•

६
कुहू-ध्वनि

तेज दुपहरी तपे समूचा अंचल कँपे
भाप शिखा अग्नि-साँस ढाये,
खोज रही दसों दिशा मानो धरती की तृषा
लपलपाती जीभ फैलाये।
फैलाये छाँह कतार स्तब्ध पड़े तीन - चार
शीशम के पीले किसलय,
नीम पेड़ शाखें हरी गुच्छे - गुच्छे फूल भरीं
आम बाग पीले फलमय।
गोलक, चम्पा के फूल गंध हिलोर आकुल,
आते बाग से वातायन को—
झाऊ गाछ छायाहीन साँस लेते उदासीन
शून्य में देखें निज मन को।
दूर - दूर के प्रांतर तपें धकधकाकर
टेढी राहें, जली सूखी काया–
पास में ही उपवन मंद मधुर पवन
फूल गंध, श्याम स्निग्ध छाया।
छाँह में कुटिया पड़ी पंखे खोले हर घड़ी
पंछी सम करती विराज,
वही है सबका आड़ करें बिन छेड़छाड़
सुख - दुख में दिनों के काज।
अरे कहाँ ! निद्राहीन धूप जले लम्बे दिन
कोयल गाती कुहू स्वर में।
वही पुरानी वो तान कुदरती मर्म गान
पहुँचते मानव घर में।

बैठी अपने अँगनें गेहूँ पीसें दो बहनें,
गाती हैं गीत बिना थकान।
पक्का कुआं तरु नीचे कन्या वहाँ पानी खींचे
तेज धूप से है सुख [illegible]।

दूर नदी, बीच चर बैठ के मचान पर
अगोरें किसान निज खेती।
बच्चे चरवाहे आयें खेलें-कूदें नाचें-गायें
दूर कहीं नायें हैं चलती।
कित्ते काम कित्ते खेल कित्ते जन रेल-पेल
सुखी-दुखी भाव हैं अशेष—
उन्हीं बीच कुहू-स्वर एक तान सकातर
पाता भला! कहाँ से प्रवेश।
करते निखिल भग्न संयुक्त मिश्रित भग्न
थोथे गीतहीन कलरव,
पड़े उनके ऊपर परिपूर्ण सुधा स्वर
खिले हुए फूलों के सौरभ।
इत्ते काण्ड, इत्ते शोर ये विचित्र कलरोर
संसार भँवर विभ्रम में—
तो भी वही चिरकाल अरण्य के अंतराल
कुहू सुर बजे पंचम में।
मानो कोई आस लिए जग सीने माथ दिए
बैठी कोई सरल सुंदरी,
मानो वह रूपवती संगीत की सरस्वती
सम्मोहन वीणा हाथ धरी।
कोमल उसके कान होते हैं दुखी हैरान
गोलमाल से दिन-रात के,
जटिल वह झंकार सुनाना चाहती सार
सरल सुन्दर संगीत के।
इसीलिए चिर दिन बजती है श्रांति हीन
तान कुहू, करती कातर—
संगीत का दर्द जगे उसमें ज्यों मिला लगे
करुणा का अनुनय स्वर।

पड़ा रहे कोई घर कोई जाये काम पर
कोई सुने कोई नहीं सुने—
तो भी कैसी माया सजी ध्वनि वही रहे बची
जग-व्यापी मानव-मन में।

तो भी युग - युगांतर मानव-जीवन स्तर
होता नम उसी संगीत से,
कित्ती कोटि कुहू - तान मिलाती अपने प्राण
जीव के ही जीवनवृत्त से।
सुख - दुख के उत्सव गायें गीत कलरव
बिखरे पड़े गाँवों के बीच,
उसी साथ सुधा-स्वर घुले-मिले प्यार भर
विहंग, मानव गीतों बीच।
कोजागरी पूर्णिमा में शिशु विहँसे नभ में
घेरे हँसें जनक - जननी—
सुदूर वनांचल से दखिनी हवा नद से
तैरी आये कुहू - कुहू ध्वनि।
तमसा तट छाहों में लव-कुश घूमें भ्रमें
सीता देख सुख - दुख पायें—
घनी आम शाखा पर बोल उठे पिकवर
कुहू - तान करुणा वर्षाये।
लता कुंज तपोवन पा के दुष्यन्त विजन
शकुन्तला लज्जा - थर - थर
फिर वही कुहू भाष रमनी प्रेमपियास
बना दिया था और मधुर।

निस्तब्ध दुपहरी में जा अतीत लहरी में
सुन के आकुल कुहू - रव–
विशाल मानव प्राण मेरे बीच विद्यमान
देश - काल करे अभिभव।
अतीत के दुःख - सुख दूर बासी प्रिय मुख
स्वप्न सुने शैशव के गान,
एक ही कुहू मंत्र से दिखाई देते आपसे
पा लेते हैं नये-नये प्राण।

२२ बैसाख, १८८८
५ कार्तिक, १८८८

•

७

खाली घर में

किसने दिया है स्नेह मानव-मन में,
किसने बनाया प्रियजन !
विरह अन्हारे हाये तू कौन उसे रुलाये,
क्यों नहीं तुम भी साथ करते क्रन्दन !

जो कुछ चाहता प्राण वह दो, मत दो,
तो क्या नहीं मिलेगी करुणा ?
दुर्लभ चीजों खातिर शिशु मचले आखिर,
तब जननी को क्या नहीं होती वेदना ?

दुर्बल मानव-मन विदीर्ण है जहाँ,
मर्मभेदी यन्त्रणा विषम,
जीवन भरोसाहीन धूल में होता विलीन,
क्यों है वहाँ भी तुम्हारा कठोर नियम।

जग तुम्हारा वहाँ भी चिरमौनी है क्यों,
देता नहीं आश्वासन सुख।
फाड़कर अन्तराल असीम रहस्य जाल
उभरता नहीं है क्यों गुप्त स्नेह मुख !

क्यों बोल नहीं उठती धरती जननी
—करुण मर्मर कण्ठ स्वर—
"मैं सिर्फ धूल नहीं हूँ, वत्स ! मैं प्राणमयी हूँ
जननी, तुम्हारे लिए हृदय कातर।

"तुम नहीं परित्यक्त अनाथ सन्तान
इस विश्व धरातल पर;
तुम्हारा व्याकुल स्वर जाता नभ के ऊपर,
गूँजता उसका दर्द तारों में जाकर।"

कल था प्राण ज़ुड़ा, आज नहीं है पास—
है क्या नाथ यह छोटी बात ?
तेरे विचित्र भव में हैं कित्ते, होंगे कितने,
हुआ है प्रभु कहीं भी ऐसा वज्रपात ?

है वही सूर्यालोक, हँसी नहीं है वह—
है चाँदनी, नहीं चाँदमुख।
घर खाली पड़ा सही, कोई नहीं, कोई नहीं—
है जीवन, पर नहीं जीवन का सुख।

वही छोटा-सा मुखड़ा, दोनों हाथ वही,
वही हँसी अधरों में लीन,
उसके बिना जगत् सूखे मरुस्थलवत्—
क्या है यह बात जगत् में सारहीन।

रहेगी अटूट इस आर्त स्वर पर
क्या चारों ओर की नीरवता ?
सारे ही मानव-प्राण दर्द से कंपायमान
लौह-नियम वक्ष में होगी नहीं व्यथा !

११ बैसाख, १८८८]

•

८

जीवन-मध्याह्न

शुरू-शुरू में जीवन था जब हल्का-सा,
मैं अपने बल से चला था,
नई-नई उषा में लम्बी जीवन-यात्रा
खेलवाड़ से शुरू किया था।

तापहीन आँसू थे, हँसना बे मजाक
घुला न था बातों में जहर—
भावना भृकुटि हीन सरल ललाट
धीर स्थिर आनन्द मुखर।

जीवन हुआ जटिल, कुटिल रास्तों में,
बढ़ गया जीवन का भार—
धरती की धूलों के गुरु आकर्षण से
गिरना पड़ा कितनी बार।
अपने ऊपर अब किसका विश्वास,
अपना भरोसा उठ गया—
दर्प हुआ है चूर, धूल में सनकर
लज्जा वस्त्र भी चिथड़ गया।

बार-बार तभी आज धाऊँ तेरी ओर,
तुम तो हो निखिल निर्भर—
अनन्त देश काल रखे हो ढककर
हे प्रभो! अपने बल पर।
रुक क्षणिक पथ में करता हूँ गौर
तेरा यह ब्रह्माण्ड बृहत्—
कहाँ आया हूँ मैं, और जा रहा हूँ कहाँ
जा रहा किस ओर जगत्।

कुदरती शान्ति आज करता हूँ पान
बहतीं चिर आश्वास धारें—
निशीथ नभ की ओर उठाकर आँखें
देखता करोड़ों ग्रहतारे—
घनघोर तामसी के छेदों बीच पाता
ज्योतिर्मय तेरा एहसास
अहो महा अन्धकार, अहो महा ज्योति,
अप्रकाश, चिर - स्वप्रकाश।

जीवन का भार रहा जब खूब हल्का
रहा नहीं जब कोई पाप

उस काल किया न गौर तुम्हारी ओर,
जान न पाया तेरा प्रताप--
अगाध तुम्हारी शान्ति, रहस्य अपार,
सौंदर्य असीम बेतुलन--
स्तब्ध हो मुग्ध नेत्रों निविड़ विस्मय से
देखा नहीं तेरा त्रिभुवन।

कोमल शाम का चित्र उदास उदार
सीवान के आम बगीचे में,
बैसाख की नीली धारा बिमल बाहिनी
क्षीण गंगा रेत शयन में,
सर पर सप्त ऋषि युग-युगांतों के
इतिहास में आँख गड़ाये,
निद्राहीन पूर्णचन्द्र स्तब्ध रजनी में
नींद सागर में लहराये--

नित्य साँस लेती हवा, उभरती उषा,
कनक श्यामल सम्मिलन,
दूर-दूर तक फैली खिन्न दुपहरी,
वन छाया निविड़ गहन,
आँखें जाँयँ जहाँ तक फसलों की बालें
धरा-आँचल रखी हैं भर--
जगत के मर्म से मेरे मर्मस्थल को
लाती हैं जीवन की लहर।

जा बचनों के अतीत भरता है दिल,
आते नयनों में अश्रुजल,
गल-झरकर मेरे विरह विषाद
भिजायें जग का वक्षस्थल।
प्रशान्त गंभीर इस कुदरत बीच
खोया जा रहा जीवन मेरा,
घुलती जा रही महा प्राण सागर में
पाप-पंकिल संताप धारा।

सिर्फ उमड़ता प्रेम मंगल मधुर,
बढ़ती है जीवन की गति,
घूल-घुले दुख गम हो शांत सफेद
लगते जैसे आनन्द मूर्ति।
फैल जाते सीधे स्वार्थ खोकर बन्धन
यह जग बीच किसे सूझे,
जग निश्वास लग जीवन कुहर में
आनन्द मंगल ध्वनि गूँजे।

१४ वैसाख, १८८८]

•

९
थकान

याद करूँ कित्ती बार पूर्णिमा रात में
मधुर पवन,
अलसाई आँखों सम मुँद आये गर धीरे
थका - सा जीवन।
गगन के अपलक जगते चाँद की ओर
खुले खिड़की के दोनों द्वार—
दूर कहीं घंटी बजे, गंगा कहाँ बही जाती,
मस्त हैं नींद में दोनों पार।
माझी गीत गाये जाते वृंदावन गाथा
आप - मनमाने,
चिर जीवन की यादें गल आयें आँसू बन
नयनों के कोने।

मंद स्रोत में स्वप्नों के प्राण जायें दूर बहे
स्वप्नों से निःस्वप्नी अतल में,
बहाये प्रदीप जैसे सांध्य पवन से बुझ
डूब जायें जाह्नवी जल में।

१६ बैसाख, १८८८]

•

१०
विछोह

व्याकुल नयन मेरे, अस्त होता रवि,
शाम का मेघावनत पश्चिमी गगन,
देखते थे सब लोग वही मुख-छबि–
चल रही थी अकेली अपने ही मन।

धरती धर रही थी कोमल चरण,
पवन ले-ले रहा था विमल निश्वास,
शाम के आलोक से बने दोनों नयन
भुलावा-सा दे रहा था पश्चिमी आकाश।

रवि उसे दे रहा था अपनी किरण,
मेघ दे रहे थे उसे सुनहरी छाया,
मुग्ध मन पथिक के उत्सुक नयन
देते थे मुखड़े पर प्रेमभरी माया।

चारों ओर थीं फसलें चित्रवत् स्थिर,
नीली नदी सीमा पर, दूर उस पार
शुभ्र चर, और दूर, वन का तिमिर
अग्नि तेज दहकता दिगन्त मँझार।

दिन की अन्तिम दृष्टि–अन्तिम गरिमा–
घेरा उसे अचानक कनक - प्रकाश,
खिन्न आभा पट पर मोहिनी प्रतिमा
अपलक नयनों में दे उठी आभास।

पल में घूमी धरती डूबा जो तपन,
सामने आया सहसा घोर अन्तराल–
दृष्टि गई नयनों की छोड़ती स्वपन,
अनन्त आकाश, और धरती विशाल।

१९ बैसाख, १८८८]

•

११
मानसिक अभिसार

लगता जैसे वह भी बैठी टोह लेती
देख रही खिड़की से उदास नयन—
गालों, कानों के पास साँस छोड़ती जाती
क्या पता किसकी बात खिन्न समीरन।

त्याग शरीर अपना कोमल हृदय
निकली बाहर मानो लम्बा अभिसार,
सामने अपार धरा कठोर निर्दय—
अकेली वह खड़ी है, उसीके मंझार।

शायद अभी हो वह पहुँची है वहाँ
दबे पांव घुसती है इस खिड़की में,
मानस मूरति पा मुझे व्याकुल जहाँ
बाँधती देह विहीन स्वप्न मिलन में।

उसका ही प्रेम, उसीकी बाँहें कोमल,
उत्कंठ चकोर-सम विरह-पियास,
ढो-ढोकर वो लाती है फूल-परिमल—
रुला डालता है यह वसन्त बतास।

२१ बैसाख, १८८८]

●

१२
पत्र-प्रतीक्षा

चिट्ठी कहाँ ! दिन ढला, किताबें तो फेंको भला,
अब तो अच्छी लगे ना बेकार पढ़ाई।
मिटाने मन का खेद गूँथ गए अविच्छेद
कितने परिच्छेद, झूठी मनगढ़ाई।
कानन की सीमा पास छाया पड़े गाछ-घास,
सोया है मंद प्रकाश बालू भरे तीर।
चले हवा ले लहरें हिले - डुले औ पसरे
नायें बँधीं घाट धरे बहे गंगा नीर।

चिट्ठी कहाँ ! आ के यहाँ दूर देश सूना जहाँ
क्या पढ़ूँगा दिन गवाँ शाम अँजोरों में !
गोधूलि का छायातल अनजाना मायाबल
मुख वही अश्रुजल रचेगा आँखों में।
घने गूँजते रव में झींगुर बोलें बन में
कौन मिलाये उनमें स्मृति कण्ठ स्वर।
तीर तरु की छाहों में मृदु सांध्य हवाओं में
कौन छुआए अंगों में कोमल-सा कर।

वृक्षों पर पंछी आएँ, दूर से नीड़ों को धायें,
सारी नायें घाटे आएँ, लौटीं सारी आप—
उसका जो स्नेह स्वर सारी दूरी भेदकर
क्यों नहीं गोद पर आता है चुपचाप।
दिनान्त में स्नेह स्मृति आती एक बार निति
कलरव भरी प्रीति लिए भर मुख—
दिवस का भार सब्र हल्का बन जाता तब,
पल में कटे रात जब दे स्वप्न सुख।

सब तो है याद हमें जब तक था पास में
कितना बोली बात में कितने प्यार से-
कित्तीं बातें सुना नहीं दिल में हैं कहीं नहीं,
कुछ सुना क्षण में ही भूला भी झट से।
चिट्ठी पूर्ति के बहाने वह जो आज बखाने
मन गले अनजाने, आँखें ढारें जल—
उसीलिए कित्ती व्यथा, कित्ती मन व्याकुलता,
दो-चार ठो तुच्छ कथा जीवन संबल।

अन्हार जैसे दिन ही दो - चार बातों बिन ही
'तुम अच्छे हो कि नहीं' 'मैं हूँ यहाँ ठीक'
स्नेह ज्यों नाम बुलाए पास आ के देख जाए,
दो ही बातें ले आएँ दूर से नजदीक।
मिलना - जुलना सब बन्धन लगा है अब,
बीच में है दूरी जब नदी पर्वतों की—
याद सिर्फ स्नेह लिए दोनों के हाथों को छुए
वर्णों को माला हुए बाँधे पीर दोनों की।

चिट्ठी कहाँ! आई निशा, तिमिर में डूबीं दिशा,
दिनभर की तृषा रह गई मन में—
अन्धकार नदी तीरे टहलें औ घूमें - फिरें
कुदरती शान्ति धीरे घुसे जिंदगी में।
फिर आँखें छल - छल, दो ही बिन्दु अश्रुजल
भिजायें कपोलतल, सूखें बतास से—
फिर आँसू रुक गया ललाट शीतल भया
रजनी ने शांत किया ठंढी निश्वास से।

नभ में असंख्य तारे चिंता औ थकान न्यारे
हिय-विस्मय से सारे देखूं एक दिट्ठी—
और जो आये न आये मुक्त नभ में न छाये
हर शाम चमकाये असीम की चिट्ठी।
अनन्त संदेश बहे, अँधेरे से देती कहे,
"जो रहे, जो नहीं रहे, कोई ना अकेला—
सीमा पार रहती हूँ सबको पुकारती हूँ
ज्योति-पत्र लिखती हूँ रोज रात्रि बेला।"

२३ बैसाख, १८८८]

•

१३
बधू

"समय ढल चला, जल को चल !"
पुराना वही सुर – कोई बुलाये दूर,
कहाँ वो छाया सखी, कहाँ वो जल !
कहाँ वो बँधा घाट, पीपल-तल !
थी तो उदास भली घर में भी अकेली,
किसने बुलाया रे 'जल को चल'।

काँख लिए कलसी पथ टेढ़ीले,
बाएँ केवल खेत सदा धू - धू अचेत,
दाहिनें बाँस बन झुकाए डालें।
दीघी का काला जल साँझ की झलमल
दोनों ओर ही बन छाँह घनीले।
गहरा स्थिर नीर तैर जाऊँ धीर
पपीहा बोले तीर अमिय ढाले।
लौटती राह पर, अँधेरे पेड़ों पर
सहसा देखूं चाँद गगन तले।

उगा है पीपल छेद दीवाल,
दौड़ती वहाँ उठ प्रातःकाल।
शरद् धरातल ओस से झलमल
कनेर खिल-खिल हुआ निहाल।
प्राचीर चढ़ - चढ़ सब्ज मढ़ - मढ़
बैगनी फूलों की लतिका जाल।
छेद में आँखें गाड़े बैठी रहूँ आड़े
बगल में आँचल गिरा बेहाल।

खेतों के बाद खेत, उनके पार
बसे दूर में गाँव नभ के ढार।
इधर पुरातन श्यामल ताड़बन
सटे खड़ा बनाये घनी कतार।
बाँध की जल - रेखा लगती ज्योति लेखा,
जुटते चरवाहे उसी किनार।
पथ किधर जाता मुझे क्या है पता!
पता नहीं कितने देशों के पार।

हाय रे राजधानी पाषाण-काया!
बिराट मुठी तर दबाती जोर भर,
व्याकुल बालिका को जरा न भाया!
कहाँ वे मैदान, घाट बाट जहान,
कहाँ पखेरू गान, बन की छाया।

कोई ज्यों चारों ओर खड़ा जाहिर,
खोल सकूँ न मन सुन ले फिर?
रोना बेकार यहाँ, बाधा दीवाल जहाँ—
लौटा देती रोना वापस फिर।
मेरे आँखों के आँसू कोई न बूझे,
अवाक सभी नहिं कारण सूझे।
"जरा न सन्तोष, भीषण यह दोष
गँवई बालाओं के स्वभाव में ही।
स्वजन - परिजन क्या ही नेक मिलन
पर है आँखें मूँदे कोने में ही!"

कोई निहारे मुँह शरीर कोई;
कोई कहता 'भली', तो 'नहीं' कोई।
फूल की माला नाई बिकने मानो आई
परखें सभी, स्नेह करे ना कोई।

मैं सभी के बीच फिरूँ अकेल
सारी बेला कटती क्या ही बेमेल !
ईंट ऊपर ईंट, बीच में नर कीट—
ना कोई प्रेम प्रीति, ना कोई खेल।

कहाँ पर है तू, कहाँ माई री,
भूल मुझे कैसे वहाँ है री
चाँद उगने पर, बैठी छत पर
परी कहानी अब्र ना कहेगी री !

दिल में चोट लिए खाली शैया सोए
जानती माँ, रोती हो रात जाग के,
फूल लोढ़ सबेरे हाथ जोड़ सिवाले
प्रवासी कन्या का शुभ माँग के।

यहाँ भी चाँद उगे छत के पार,
चाँदनी सर पीटे घर के द्वार।
वह मुझे ढूंढ़ती देश - देश घूमती,
खोजती मुझे मानो देने को प्यार।

तभी मैं पल में खुद को भूल
खोलती झट द्वार हो के व्याकुल।
चट चारों ओर से आँखें घूरें क्रोध से
आए हाय शासन आँधी माकूल।

देते न स्नेह प्यार, नन्हीं उजाला।
चाहे सदा हृदय अंधेरा छायामय
दीघी का वह जल शीतल काला,
जा उसांकी गोद मे मरना भला।

बुला, बुला तू सब, बोल रे बोल—
"समय ढल चला, जल को चल !"
कब आयेगी शाम ? होगा खतम काम,
बुझेगी दहक पा शीतल जल,
जानती हो कोई तो, मुझको बोल !

११ ज्येष्ठ, १८८८
७ कार्तिक, १८८८

१४
व्यक्त प्रेम

क्यो तब छीन लिए हो लाज आवरण ?
द्वार हृदय का भींच ले आए बाहर खींच,
अब क्या डगर बीच करोगे वर्जन ?

थीं मैं अपने अंदर लीन अपने ही,
संसारी शत काज में थी मैं सबके माँझ में,
जैसे रहे सब लोग मैं भी थी वैसे ही।

पूजा के फूल लोढ़ने जाती जब कभी
वह पथ छाया भरा, बेड़ा वह लता घिरा,
उसी सरसी के तीरे कनेर वन भी—

वही कुहुकता पिक शिरीष-डालों में,
भोरे सखियों के संग, कितनी हँसी औ रंग—
कौन जाने क्या था यार प्राणों की आड़ में।

खिल जाते बसन्त में बन-बेली फूल,
गजरे बनातीं कुछ, डोलची भरतीं कुछ,
करती दखिनी हवा अंचल आकुल।

बरसाती घन घटा, तड़ित् क्रीड़ा में—
प्रांतर की सीमा ओर मिले मेघ बन छोर,
खिलतीं जूही सब तिजहरी बेला में।

आते-जाते वर्ष, करती घर का काम—
सुख - दुख बाँटकर जाते हैं दिन गुजर,
कटती रात भोगते स्वप्न का आराम।

छिपे प्राणों का प्रेम है कितना पवित्र!
अँधेरे दिल के पास देता मोती-सा प्रकाश,
है उजाले में काले कलंक-सा विचित्र।

तोड़ करके देखा छि-छि नारी हृदय!
लाज-डर - थर - थर गहन प्रेम कातर
छिपने की ठाँईं उसकी छीने निर्दय!

त्योंही आते हैं आज भी वसन्त शरत्।
वह टेढ़ी चम्पा डाली सुनहरे फूलोंवाली,
वही तोड़तीं आकर-वही छायापथ।

जैसी रहीं वे तब, हैं वैसी अविकल—
वैसी ही रोती हँसती, काम व प्रेम करती,
दिये जला पूजा करती, खींचती जल।

झाँकता नहीं कोई भी उनके मन में—
देखे नहीं तोड़कर हृदय का चोर घर,
खुद न जानें वे क्या है उनके मर्म में।

मैं तो आज छिन्न फूल राज-पथ बीच,
पल्लवों का सुचिकन छाया स्निग्ध आवरण
त्याग हाय धूल में लोटूँ-घिसटूँ खीझ।

अतीत दुख की दुखी घनी प्रीति कर
यत्न कर चिरकाल गढ़ दोगे अंतराल,
खोला था मन द्वार इसी भरोसे पर।

आज सखा मुँह फेर रहे, क्या बात है !
आ गये थे गलती से ? प्यार किये गलती से ?
टूट गई गलती, अतः चले जाते हो ?

लौट जाओगे तुम तो आज न हो कल–
पर मेरी वापसी का कोई मार्ग नहीं रक्खा,
मिला दिया है धूल में प्राण-आड़ मल !

यह क्या दारुण गल्ती ! विश्व निलय में
लाखों प्राण छोड़ दिए गल्ती करके आ गए ?
अभागिनी रमणी के गुप्त हृदय में !

जरा सोचो तो कहाँ लाये हो मुझे यहाँ–
हजारों - लाखों आँखों की निष्ठुर धरा कौतुकी
ताकती रहेगी वो नग्न कलंक जहाँ ।

प्रेम को ही गर लौटा लेना था अंत में,
काहे लज्जा काढ़ लिए, अकेली ही छोड़ दिए
विशाल विश्व के बीच निर्वस्त्र-वेष में ।

१२ ज्येष्ठ, १८८८]
७ कार्तिक]

•

१५
गुप्त प्रेम

दिलों में प्रेम क्यों फिर दे दिया तुमने
हे विधि ! रूप नहीं देकर ।
पूजा लागि हृदय व्याकुल अतिशय,
पूजूँ उसे मैं क्या देकर !

प्रेम गुप्त रहे मन में, नहीं दीखे,
तभी चढ़ाते फूल देवों को
खड़ी रहती द्वार, एक टक निहार,
क्या कह खुद को दूँ उसको ?

प्रेम करें उसे जो भला हो देखने में
कर सके वह भी ज्यों प्यार।
मधुर हँसी सार जो देवे उपहार
माधुरी खिले हँसी के डार।

जिसके माखन कोमल कपोल द्वय,
क्या ही शोभते प्रेम लाज से !
जिसके डब - डब दृग कमल भव
वही निखरते आँसुओं से।

तभी छिपी रहती सदा दीख न जाऊँ,
जताते प्यार मरूँ लाज में।
लगा मन का द्वार प्रेम का कारागार
रची हूँ अपने परान में।

आह ! यह तन - प्रारूप श्रीहीन म्लान
सूख अगर झर जाय रे !
हृदय बीच मम देवता मनोरम
माधुरी अनूप लुकाय रे !

प्यार करूँ जितना छिपा के प्राणभर
भर उठते प्राण शोभा से—
काले बादलों में ज्यों अरुणाभा आवे त्यों
माधुरी निकले प्रभात से।

दिखा न सकी वह शोभा मैं किसीको,
कुरूप देह ही देखें सभी—
प्रेम तो छुप - छुप धरना चाहे रूप,
वो मन के अँधेरे में तभी।

देखो, अँधियारे में छिपे बन का प्रेम
करे फूलों में निज विकास,
तारे अपने दिल करते झिलमिल
रचते वे खुद के प्रकाश।

प्रेम की आँखें छीनना चाहे प्रेम भू में,
मोहन रूप तभी धरता।
मैं तो अपने को सजा ही नहीं सकी,
प्राण पखेरू रो - रो मरता।

मैं अपनी मधुरता आप जानती
अभी भी जो प्राणों में बसती,
उसे वहाँ लेकर दिखा सकती गर
झट व्याकुलता मिट जाती।

मैं तो रूपसी नहीं, फिर भी मन में
प्रेम का है रूप मधुर।
धन्य यतन का शयन-स्वपन का,
जीवन - तम करता दूर।

निज अपमान सहन कर सकती
असह्य प्रेम अपमान।
अमरावती त्याग दिल में आया भाग,
वह तो उससे भी महान।

कहीं कुरूप उसे कभी देखना पड़े
कुरूप देह पकड़कर,
प्राणों के एक ओर देह के उस छोर
तभी रखूँ उसे रोककर।

चाहूँ न दिखाना उसे अतः आँखों में,
इसीलिए नीरव रसना।
जितना मुँह देखे आँखें गड़ाऊँ नीचे,
अनजाने मरती बासना।

तभी तो भागूं दूर गर वो पास आए,
आशा अपनी कुचल जाती,
वो कहीं देख मुझे 'कौन ?' कह खीझे
मुख हाथों से ढके रहती।

गर वो समझ बैठे आँखों - बातों से
मेरे जीवन - गाथा रस को—
मन में गर पूछे, "क्या वो भी प्रेम बूझे !
मैं तो देखा नहीं इसको !"

दिलों में प्रेम क्यों फिर दे दिया तुमने
हे विधि ! रूप नहीं देकर।
पूजा लागि हृदय व्याकुल अतिशय,
पूजूं उसे मैं क्या देकर !

११ ज्येष्ठ, १८८८]

•

१६
प्रतीक्षा

गुजर गया सारा समय
तिपहरी न जाती।
दिन भर की थकी-सी छवि
जाना न चाहे जरा भी रवि,
देखता रहे धरा की ओर
बिदाई न भाती।

जुड़ा रहता मेघों से दिन
सोये खेत सपाट,
पड़ा रहता पेड़ों के सिर,
काँपे संग नदी के नीर
रुकी रहती लम्बी छाया
पसरी घाट बाट।

उल्लू डालों छिपे सुनावे
करुण एक तान।
अलस दुख में बहु दिन
था पड़ा वह मिलन हीन,
अभी उसकी विरह - गाथा
जरा न होती म्लान।

देखो बधुएँ आ गईं घाट,
आई न छाया अभी।
घड़े से लग लहरें टूटें,
चूर - चूर हो किरणें लूटें,
थकी हवायें प्रान्त - नीर
चूमती जायें कभी।

दिन के बाद आ के बाहर
वो भी क्या इस क्षण,
लपेटे तन नीलाम्बरी
निभृत नीर में जा उतरी,
प्राचीर घिरा छाँह ढका वो
विजन फूल बन ?

स्निग्ध जल मुग्ध होके
सटा तन में, हँसी।
दोनों मधुर करों की चोटें
जल अगाध खाकर टूटे,
उठते नाच ग्रीवा के पास
करते कानाफूसी।

किरणें पड़ें कपोल पर
उसे बनायें लाल।
मुख की छाया जल में पड़
खोजे खुद को ज्यों छलकर,
जल तल पे जाय पसर
खुलकर आँचल।

बिखेर कर जल ऊपर
रूप अपना भींच
आराम सुख में लाजहीन
मधुर मुख में हँसी भीन,
भू आँखों पर बन की छाया
देती पर्दा खींच।

सीढ़ी ऊपर जल के बीच
वेश भूषा उदास।
आधी वो काया आधी-सी छाया
रचती जल ऊपर माया,
देह की छाया देह को मानो
करती उपहास।

आम-बाग में भरा मुकुल
महके घाट घर।
बिरही पाखी छिप डालिन,
बोल उठता अपने मन,
हो मजबूर वकुल फूल
जल में जाता झर।

दिन मुंदता आता क्रम से
किरणें खोयें लाली।
निविड़ घन वन रेखायें
गगन पार दिखती जायें,
नींद से भारी आँखों ऊपर
मानो भौहें काली।

उठ आई वो शायद तीर
गोद जल की छोड़।
तेज कदम चलती घर,
भींगे वस्त्र अंगों पर—
यौवन का लावण्य ज्यों
लेना चाहें निचोड़।

तन रगड़ बन - ठन के
धरेगी नया वेष।
बाँध के चोली आँचल खींच
पहन लेगी बेरवा भींच
निपुणाई से रचेगी वेणी
बाँधेगी निज केश।

गले में डाल जूही का हार
सर पे साड़ी ओढ़
वन - पथ में नदी के तीर
अँधियारे में चलेगी धीर
सांध्य हवा में बास भर
रेखा जैसी छोड़।

गूंजेगा उसका पद चाप
दिल की नस - नस।
वह न कभी निकट आए
मानो परस भेज बुलाए,
जिस तरह जग जगाती
दक्खिनी बतास।

जा जब पास खड़ा होऊँगा
होयेगी क्या वार्ता ?
क्षण भर को सुन्न काय
रुकी रहेगी चित्र न्याय,
देखेगी मुख ओर केवल
सुख की आकुलता।

मिटेगा तब दोनों के बीच
प्रकाश आवरण।
अँधेरे बीच खो के गुप्त
हो जायेगी दुनियाँ लुप्त,
मुँद जायेंगे लाख - करोड़
जागे हुए नयन।

अँधेरा लाये निकटतर
अँजोर करे दूर।
जैसे, दुखी प्राणों की जोड़ी
जोड़े दुख की रात अँधेरी,
सुख प्रभात में रहते जो
खुद में भरपूर।

अँधेरे में ज्यों दो जने फिर
रहते नहीं दोय।
दिल भीतर जितना चाहूँ
पूरा उतना जैसे पाऊँ
प्रलय स्रोत सब बहाय—
बाकी रहे हृदय।

अँधेरे में ज्यों हृदय देह
हो गए एकाकार।
मृत्यु मानो पहले आई,
सारे बन्धन काट खाई,
तेज गति से पहुँचे दोनों
जगत उस पार।

दोनों को मानों दोनों ओर से
बहाये खर धार
ला रही थी ज्यों दोनों की ओर
व्याकुल वेग प्राण झकोर,
सहसा मिल गये पाकर
निशीथ पारावार।

ठमक गया अधीर स्रोत
बन्द कल तान,
मौन एक मिलन क्षण
तिमिर किया ज्यों भक्षण,
प्रलय बीच हुआ दोनों में
दोनों का अवसान।

१४ ज्येष्ठ, १८८८]

•

१७
दुरंत आशा

मन में जब मत्त आशा
साँप - सी फुफकारे
अदृष्ट के जालों में बँधा
रोष वृथा हुंकाड़े
तब भी भल मनई साज
मढ़ा हुक्का रगड़ माँज
गन्दा तास जोर से भाँज
खेलते मतवारे!
अन्नाहारी वंगबासी
स्तन्यपायी जीव
जन दसेक गप्प करें
चौकी पे दुआरे।

भद्र हम, शान्त बड़े,
पालतू सब प्राण
बटन लगे कुर्ते बीच
शान्त नींदवान।

मिलने पर मिष्ट अति
मुख का भाव शिष्ट अति,
अलस देह क्लिष्ट गति—
घर के प्रति टान।
तेल पिलाया स्निग्ध तनु
निद्रा रस लीन,
कद में छोटा बहर बड़ा
बँगाली सन्तान।

इससे भला अगर होता
अरबी बेदुयिन।
विशाल मरु पैरों तले
दिशाओं में विलीन।
भागता घोड़ा, उड़ती रेत,
जीवन स्रोत नभ में देत
जला दिल में आग सचेत
चलता - रात दिन।
हाथ में भाला, मन में आस,
सदा ही निरुद्देश
बहता मरु में ज्यों तूफान
सकल बाधा हीन।

विपदा देख झपट पड़ूँ
खून गरमा उठे,
सारे शरीर पूरे मन में
जीवन जाग उठे—
अँधियारे व दिवालोक में
तैरते मरण स्रोत में
नृत्य मय चित्त से जो
मत्त हंस लूटें।
दुनियाँ बीच बड़ा है जो
साथी वह प्राणों का,
धाये जो प्राण झंझा बीच
सिन्धु माँझ टूटे।

क्षण भर को इच्छा लाती
विकट उल्लास
सारे बन्धन तोड़ गहूँ
जीवन उच्छ्वास—
शून्य व्योम अपरिमाण
मद्य सम करने पान
मुक्त करूँ रुद्ध प्राण
ऊंचे नील आकाश।
रह न सकूं क्षुद्र कोने
आम बगीचे छाँव
सुषुप्त होकर लापता
गुप्त गृहबास।

धरे बेहला टेढ़ा करके
बजाते हो क्या सुर–
तबला - बायाँ गोद में खींच
आवाज भरपूर!
अखबार दिखा, ऊँचे स्वर
राजनीतिक तर्क कर,
खिड़कियों से घुसती घर
बतास झुरझुर।
पान का डब्बा, फूल, माला
तबला - बायाँ दोनों
दम्भ भरे अखबार ये
फेंक दो सब दूर!

करते हो क्यों अहङ्कार?
दम्भ ना सोहाय—
बल्कि रहो मौन बने
लाज से सकुचाय।
अत्याचार में मतवारा
क्या होता कभी आत्महारा?

खौलती क्या रक्त धारा
देह में गरमाय ?
अहर्निशि घृणा की हँसी,
तीव्र अपमान—
मर्म बेध बज्र सम
क्या कभी तड़पाय ?

दासता - सुख में हंस मुख
विनीत जोड़े कर,
प्रभु पाद के स्नेह सुख में
थिरके कलेवर !
पावों पर जो गिरते जाके
घृणा में सना अन्न पाके
व्यग्रता से पूंछ दबा के
लौट जाते घर।
बैठे घर फुलाते छाती
पूर्वजों की सोच,
आर्य तेज दर्प दबो
पृथ्वी थर - थर !

सर झुकाये, होंठ दबाये
मीठी - सी मुस्कानी
मैं तो बोल नहीं सकूंगा
भद्रता की बानी।
रक्त में आता उच्छ्वास
करता सारा कलेजा ग्रास,
चिन्ता रास बिन प्रकाश
करतीं खींचातानी।
भाग सकता कहीं अगर
तो बच जाता मैं—
कहाँ भव्यता के घेरे में
शान्ति की निशानी !

१८ ज्येष्ठ, १८८८]

१८

देश की उन्नति

भई ! भाषण तो खूब जँचा,
कानों में गूंज रहा—
क्या भला करना उचित था,
अब क्या करूँ अहा !
सुनो अँधेरे में वो मौन
भारता माता करती 'ग्रोन',
ऐसे में वे भीषम द्रोण
आखिर गये कहाँ !
देश दुख में सदा मरता
मन की व्यथा खोल कहता,
दस्तखत अभी करता
पीटीशन में, कहाँ ?
आओ, करें हवाई क्रांति,
जितना सकें फुलायें छाती,
नहीं तो गई आर्य जाति
रसातल में वहाँ।

उत्साह में दहक उठो
दो दोनों हाथों ताली !
जो हम लोग बड़े न बोलें
दे दो उनको गाली !
भर अखबार लिखो - लिखो,
ऐसा कर लड़ना सीखो,
हाथ बगल में रखो रखो
स्याही कलम खाली !
चार कौर अन्न खाओ,
दो पहर में आफिस जाओ,
उसके बाद सभा में धाओ

ले के बात-भुजाली—
रो - पीट वहाँ देश का दुख
शाम को फिर घर में ढुक
साली संग हँसते मुख
छेड़ो खूब ठिठोली।
दूर हो यह विडम्बना,
तानाकशी का भान।
देना चाहे सबको दर्द
दर्द भरा प्राण।
मेरे अपने दिल का तल
शर्म - ताप से जाता जल,
कर अतः हँसी का छल
देता लज्जा दान।
आओ न भाई, विरोध भूलें,
क्यों वृथा लतियाकर हूलें
मत - पथों की जितनी धूलें
आकाश के समान?
घर, बाहर, जन माँझ में
बनें महत् सब काज में,
मरें गुपचुप ही लाज में
झूठे जो अभिमान।

मन्दिरों में क्षुद्रता के
लेटे पाँव पसारे
अपने ही पैरों ना दे दूँ
अर्घ सारे - सारे।
जग में हैं जो भी महत्
उनके सामने होऊँ नत,
दिल याचे कृपा औ सत
सबके द्वारे - द्वारे।
कार्य जब भी भूल जाऊँ
मर्म में ज्यों लज्जा पाऊँ,

अपने को न भुलाने जाऊँ,
बातों के अँधियारे।
क्षुद्र काम क्षुद्र नहीं
बैठे मन में बात यही,
लगे न बड़ी मन की गही
बड़ी कल्पना रे।
होंगे बड़े लोक - नजर में
इन बातों को भूल
हो सकें सचमुच बृहत्
निज प्राणों के मूल।
लक्ष्य छोड़े बहुत दूर
रहें न चुप लेटे, हो चूर
दोनों नेत्र स्वप्नातुर
पसारे नभ कूल।
हैं जो काम घर में पड़े,
उनको ही भरपूर करें,
मरें न सोच 'यह क्यों करें'
संशयों में दुल।
काम करेंगे जो चुप मार,
मृत्यु जब लेगी पुकार
रख जायेंगे जीवन सार
भव के उपकूल।

सबके बड़े बनने पर
स्वदेश बड़ा होगा,
हम जो काम धरेंगे साथ
सिद्ध वह होगा।
सत्य पथ, अपने बल
चलें सभी, सीना ताने गर,
मृत्यु डर पैरों तर,
कुचला ही रहेगा।
नहीं तो फिर बातें ही सार,
आशायें मरेंगी लाखों बार,

दलादली व अहंकार
शोरगुल बढ़ेगा।
आमोद को ही कार्य मान—
यश पंखे नभ में तान
मस्त सभी अपने मान—
गौरव गाने गा।
वाह रे कवि! कहता खूब,
लगता है वेश—
ऐसे ही कहने से होगी
तरक्की विशेष।
रखो 'ओज' 'उत्साह' जारी
उड़ाओ भाषाई चिनगारी
आलोचना भी चले हमारी
जगा दें सारा देश।
बंगाल का वीर्यबल
अब कैसे रहे सँभल,
किया प्रेम की गीतों ने भल
दुर्दशा का शेष।
आओ देखें कुछ दिन ठोंक
मिलें जहाँ भी जितने लोग
लिखें सभी मिलके ही श्लोक
'कौमी' उपदेश।
दोनों आँखों से अनर्गल
सभी गिरायें अश्रु जल,
उत्साह में वीरों का दल
रोमांचित केश।

माफी दो, उत्साह लायक
मेरा मगज नहीं!
सभा कँपाती कर ताली से
कातर मैं सही।
दस जने अकिल लगाते
देश को आजाद बनाते,

घर बैठे धरा कँपाते,
उनमें मैं नहीं।
'कौमो' शोक में एकजुट
मरें सभी सर कूट-कूट,
दसों दिशा में फैलें फूट
भाषणों के लावा ही—
शायद मैंने सेज पर
मुग्ध हो आलस्य कर
गूंथे छंद नशे में तर
प्रेम की बात कही।
सुने जितने वीर शावक
बने देश के अभिभावक
ताने हाथ जन-कानों तक
चिंघाड़े नहीं - नहीं !

चाहता नहीं अनुग्रह
बखान भी ऐसे।
'ओज' तथा 'उत्साह' सारे
रहें अभी वैसे।
तब मन खोल कहूँ भले—
तुम भी चलो हम भी चलें,
क्यों परस्पर को ही छलें
निर्बोधों जैसे ?

लौटो घर खेलो हे तास,
भुइयाँ लोट मिटाओ आस
मरते रहो बारहों मास
अपने ही आँगन।
पर निंदा में पा के रस
गप - अफवाह खोजो बस
सुख में आँखें टस न मस
गंदा पशुपन।

उठाते भोंड़ी हँसी लहरें
नारे गढ़ो बैठे मुखरे
सब कुछ जाओ भूल अरे
बेड़ो अपनापन।
पड़ा रहूँगा तेरे दल में
मैं भी एक धार!
बिछा चटाई घर के छात
छोटा हुक्का पकड़े हाथ
करूँगा मैं सबके साथ
देश का उपकार।
विज्ञ सजे हिला के सिर,
करेंगे हम बेशक स्थिर
हमसे बड़ा पृथ्वी पिर
दूजा न कोई यार!
आँखें मूंद गर रखो सभी
भूल नहीं सुधरेगी कभी,
अपने को बड़ा कहोगे ही
झूठी शेखी बघार।
बंगाली होते बड़े सयाने
बनते वे बड़े अनजाने,
दुःख - दर्द से बेगाने
ना कोशिश या भार।
देखो वहाँ खट के मरते,
देश-विदेश पसर जाते,
धरा खातिर जान लड़ाते
म्लेच्छ संसार!
तब नारा लगाओ जोर से
बना एकता—
महान हम बंगवासी
आर्य परिवार!

१९ ज्येष्ठ, १८८८]

१९

बंग वीर

भुलू बाबू पढ़ें पास ही घर में
रटते पहाड़े सातवें स्वर में—
हिस्ट्री किताब उनके कर में
कुर्सी ओठँग दिए
हम दोनो भाई सुख समासीन,
जलता फरस पर केरोसीन,
पढ़ डाले हम चैप्टर तीन—
भाई एमे, मैं बीए।

जिता पढ़ूं उता जल जाय तेल
मगज में जामे अंकिल की बेल
किस तरह से बीर क्रामोएल
उतारा राज-मत्था
जैसे लड़के लाठी बरसाते
पके आम सब रहते गिराते
कौतुक क्रम से बढ़ते जाते
उलाटूं पोथी - पत्ता।

कोई सिर देता धरम खातिर
परहित में गिरता कोई सिर
कोई देता सिर युद्ध में भिड़
ऐसा पोथी में लिखा
सिर टिकाये मैं कुर्सी पर
यही सब बातें चख चख कर
पढ़ता सुख से रुक रुक कर
पढ़ के कितना सीखा!

पढ़ा था बैठ के जंगले पास
भ्रमे कौन धरा, ज्ञान पियास
मरे किस काल, याद मुझे खास
किस माह, क्या तारीख।
उचित काम का कठोर शासन
शौक से किसने किया वहन
स्वीकार किया जो कंटकासन
कापी में लिया हूँ लिख।

बड़ी बातें सुनूं, बड़ी बातें गढ़ूँ
किताबें बटोर मोटी मोटी पढ़ूँ
इसी तरह से क्रमशः बढ़ूँ
कौन सकता रोक
बैठे दिन भर कुर्सी पर
करता याद किताबें पढ़-पढ़
सर दुखे या तो, या दे चक्कर
दबोचे ज्यों सिड़ी रोग

हम अँगरेजों से किसमें कम
हम हैं छोटे, यह बड़ा भ्रम
आकार प्रकार रकम - सकम
इसी में जो कुछ भेद
हम सीखें वही जो कुछ वे लिखें
उसी को तो फिर बंगला में लिखें
करके कितने कठिन से टीके
मिटे कलम का खेद

मोक्षमूलर स्वीकारा आर्य
सुनके वही छोड़ा सब कार्य
'हम लोग बड़े' कर के धार्य
सुख से गया हूँ लेट
मनु शायद थे आध्यात्मिक
हम भी कहते यही है ठीक
यह जो न जाने 'धिक्' उसे 'धिक्'
दूँ शाप जनेऊ फेट।

कौन कहता हम नहिं बीर
सबूत इसके हैं गंभीर
पूर्वज सारे चलाते थे तीर
साक्षी वेदव्यास
फिर क्या है और प्रयोजन
मिलें सभा बीच दस बीस जन
सिर्फ तर्जन व गर्जन
यही करें अभ्यास।

अरवा चाउर, केला औ भात
खा के सानसून कदली के पात
ब्रह्मचर्य पाये हाथों हाथ
ऋषि मुनि तपकर
पर हम लोग लगाकर मेज
दौड़ते होटल छोड़ कालेज
फिर भी है वही ब्रह्मतेज
मनु अनुवाद पढ़

संहिता औ मुर्गी जबह
अपना लिए क्यों जाहिर वजह
हम लोग रहते एक जगह
निमू, नेपाल, निहार
देशी जनों के कर्ण मूल बेध
लट्टू नचाते व पढ़ते वेद
भाषण, अखबार झोंक सचेत
बहाने खोज हजार।

मैराथन व थर्म पलि में
क्या कुछ हुआ था, वही कहने में
खून जलता है रग रग में
जूट की बत्ती सम
मूर्ख जो लोग पढ़ें न कुछ भी
कैसे ऐसी बातें समझें भी
कभी बाएँ मुंह, जँभाई लें कभी
दिल फट जाता मम।

गर वे पढ़ते आद्योपांत
गारीबाल्डी जीवन वृतान्त
तब क्या करते यह अज्ञात
दे कुर्सी पर ठेस
मिला - मिला तुम कविता लिखते
भली बातें कुछ कहना सीखते
कुछ दिन तो अखबार टिकते
उन्नत होता देश।

पहचाने नहीं साहित्य रस
मिला ही नहीं इतिहास परस
वाशिटन का जनम बरष
हुआ न याद, रट लो
मैट्सिनी लीला इतनी सरेस
जानते नहीं वे वह कथा लेश
हाय रे! अभागा अनपढ़ देश
लाज से मुँह ढक लो।

मैं देखो घर चौकी लाकर
लाइब्रेरी से हिस्ट्री मँगाकर
कितना पढ़ूँ व लिखूं बनाकर
रगड़ रगड़ भाषा
प्राण जले जाते, मरूँ बेना झले
उत्तेजित सर चक्कर ले
फिर भी जो भी हो स्वदेश के भले
बँधती थोड़ी सी आशा।

छोड़ो, चलो पढ़ें—'न्यासवि' समर
अहो! क्रामोएल तुम्हीं अमर
रहने दें यहीं, दुखती कमर
अस्वस्थ होता बोध

ओ नौकरानी, साबूदाना लाओ
अरे ! आओ आओ, नोनी बाबू आओ
खेलें ग्राबू, बांट तास फैलाओ
दे दूँगा कल का शोध ।

२१ ज्येष्ठ, १८८८]

•

२०

सूरदास की प्रार्थना

ढको ढको मुँह खींच आवरण,
मैं कवि सूरदास ।
आया हूँ मैं भीख माँगने, देवि !
पूरी करो मेरी आस ।
अति असह्य अग्नि दहन
मर्म बीच मैं करूँ वहन,
कलंक राहू हर पल हाय !
जीवन करता ग्रास ।
तुम पवित्र, निर्मल तुम
तुम देवी, तुम सती,
कुत्सित दीन अधम पामर
पंकिल मैं अति ।

तुम्हीं लक्ष्मी, तुम्हीं शक्ति
भर दो, मेरे हृदय में भक्ति—
जल खाक बने तिमिर पापों का
कहाँ वो पुण्य ज्योति ।

देवी करुणा मानवी रूप में,
आनंद धारा जगत बीच में,
पतित पावनी गंगा जैसे
आई थीं पापी के काज।
चरित तिहारो चिर निर्मल,
धर्म तिहारो चिर उज्ज्वल,
कर दी विलीन मेरा यह पाप
अपने पुण्य - माँझ।

शर्म कहानी तुमसे कहूँगा
लाज न इसमें आती।
चमक में तेरी मलिन लज्जा
पलक में घुल जाती।
तुम जैसे हो वैसे ही आओ,
झुकी निगाहें मेरी ओर घुमाओ,
खोल दो मुखड़ा आनन्दमयी—
पर्दे का नहिं काज।
निरखूं तुम्हें दारुण मधुर,
रह नजदीक भी हो अति दूर—
जैसे विमल देव रोषानल,
उद्यत मानो बाज।

जानती हो क्या, ये पाप-आँखे खोल
देखा तुम्हें चाह भर,
दौड़ी थी मेरी विभोर वासना
तेरे उसी मुख पर।
तब क्या हुआ कुछ पता सदय ?
आइने में तेरे विमल हृदय
कोई चिह्न पड़ा था क्या आकर
साँस की रेखा छाया ?
धरा कुहासा मलीन करे जैसे
गगन उषा की काया !

आ के लज्जा सहसा अकारण
लिए बसन-सा लाल आवरण
क्या तुमको ढकना चाही थी वह
लुभाई आँखों से बचा ?
मोह चञ्चल वो लालसा मम
कृष्ण वर्ण के भौरों सम
क्या घूम रही थी गुनगुन रव
तेरे दृग पथ में जा ?
ले आया हूँ चक्कू तेज चमकती
प्रभात किरणों सम—
लो, दो घोंप इसे, वासना सघन
इन काली आँखों मम।
शरीर में नहीं ये नयन मेरे,
हैं मरम भीतर—
निर्वाणहीन अंगार सम
जला करें दिन भर।
ले आओ उखाड़ जो दीखतीं वहाँ
लपट छोड़ती आँखें,
प्यास तिहारी लगी है जिन्हें
हों शांत तुझे पाके।

अपार भुवन, उदार गगन,
श्यामल कानन तल,
बसन्त अवि मुग्ध मूर्ति
स्वच्छ सरिता जल,
विविध रंग संध्या बादल,
ग्रहतारा भरी रातें,
विचित्र शोभा शस्य क्षेत्र
दूर फैलते जाते,
सुनील नभ में घनतर नील
अति दूर गिरिमाला,
उसके पार हो वे सूर्योदय
कनक किरण-ज्वाला,

बिजली चमके सघन वर्षा,
पूर्ण इन्द्र धनु,
असीम विकास शरत-नभ में
ज्योत्स्ना शुभ्र तनु–
ले लो,सब ले लो, ले लो तुम छीन,
निवेदन अकपट,
ठीक से चला दो तिमिर तूलिका
नभ के चित्रपट।
ये सब मुझे भुलावा दें सतत्,
कहाँ लेते हैं टान!
माधुरी मदिरा पी-पी कर फिर
राह न चीन्हें प्राण!
सभी मिल मानो बजाना चाहते
मेरी ही बंशी छीन,
नये-नये गीत रचें पागलों से,
छेड़ें नई - नई बीन।
सुन - सुन राग ललित अपनी
अवश आप ही मन—
कुसुम गंध डुबाती रहती
बसन्त समीरण।
धरता गगन मुझे आकुल हो,
फूल रहें मुझे घेर,
घुसे शरीर में ज्योत्स्ना प्रवाह
किसे पता यह फेर।
भुवन भर से बाहर आकर
भुवन मोहिनी माया,
भरी जवानी बाहु पाश अपने
भर लेती है काया।
चलती फिरती चहुँ दिसि घेर
मूर्तियाँ कल्पित,
कुसुम कानन में घूमता फिरूँ
जैसे विह्वलित।

ढीली होती आती हृदय-तंत्री,
वीणा गिरती सरक,
नहीं होता फिर हरिकीर्तन
वर्षों वर्षों तक।
हरिहीन वह अनाथ वासना
जग में पियासी फिरे—
बढ़ती प्यास, कहाँ तृष्णा-जल
अकूल लोना पानी रे!
गई थी, हे देवी! घोर तृषा वही
तिहारे रूप के पास—
नयन सहित नयन - तृष्णा
समूल कर दो नाश।
इन्द्रिय पथ से तेरी मूर्ति
पैठी जीवन-मूल,
अब काट उसे इसी चक्कू से
बाहर करो समूल।
संग होगी विलीन अँधियारे
निखिल की शोभा, हाय!
जायेंगी लक्ष्मी, संग चलेगा
जगत, छाया की न्याय।

हो, वहीं हो, तैर नहीं सकता
अब तो मूर्ति-नदी।
अँजोर मगन मूर्ति-जग से
मुझे उबारो जल्दी!
आँख गई तो, मिटेगी सीमा मेरी—
अकेला असीम भर,
लय होगा नभ मेरे अँधियारे
साथ सारा संसार।
आभा हीन उस बड़े हृदय में
मेरा निर्जन बास,
लगाये रहूँगा प्रलय - आसन
अपना बारहो मास।

रुको एक पल, समझ न पाऊँ
सोचूं गहन सठीक—
विश्व विलोप विमल अँधेरा
क्या सदा रहेगा टिक ?
क्रम धीरे धीरे घने अँधियारे
क्या फिर नहीं देखेंगे
पवित्र मुख मधुर मूर्ति
स्निग्ध झुकी सी आँखें ?

खड़ी पाता हूँ अभी अभी जैसे
देवी की प्रतिमा-सम,
धीर गम्भीर करुण नयन—
देखते हृदय मम,
आके जंगले से संध्या किरणें
परसें ललाट देश,
जलद प्रकाश करता आराम
पाकर के घन केश,
शांत रूप मूर्ति यह तेरी
क्या ही अपूर्व साज !
अनल किरणों में खिल उठेगी
अनन्त निशि भाँझ ।
चहुँ दिस नई दुनियाँ तिहारी
खुद ही सृष्ट होगी,
तुमको घेरे यह संध्या शोभा
हमेशा जगी रहेगी ।
यही जंगले, वही फूल पत्ते,
दूर सरयू-लकीर
अन्धे दिल में रात दिन हीन
दीखती रहेंगी चिर ।
काल स्रोत हीन वह नया भव
नहीं बदलाव कदा—
आज का दिन अनन्त होकर
देखता रहेगा सदा ।

फिर तो वही हो, बनो न विमुख,
देवि, क्या तिहारी क्षति–
क्यों न रहे जगी हृदय नभ में
देह हीन तेरी ज्योति।
आँख कलंक मलिन बासना
छाया भी नहीं डालेगी,
अँधार हृदय-नील-कमल की
शोभा ही सदा रहेगी।
हेरूँगा तुममें देव को अपने,
हेरूँगा अपना हरि—
जागता रहूँगा उजाले में तेरे
अनन्त विभावरी।

२२/२३ ज्येष्ठ १८८८]

•

२१
निन्दक के प्रति निवेदन

धन्य - धन्य गाऊँ यश तेरा,
धन्य लेखनी तेरी,
कर दे जागृत सदा लोक को
महती प्रतिभा तेरी।
आया गर मैं तेरे पथ पर
हट कर दूँगा ठांईं–

हीन घृणा औ क्षुद्र द्वेष क्यों,
क्यों तानाकशियाँ भाई ?
जँचतीं कुछ को मेरी रचनायें
क्या वह भी मेरा दोष ?
कुछ कहें कवि (कुछ नहीं कहें)
तुझे क्यों इससे रोष ?

क्या ही प्राणपन, जलते दिल से
जाग-जाग रात भर,
जानते हो यार - पनपते गीत
किती व्यथा भेद कर ?
बन लाल फूल खिलते हैं वे
दिल के खून नहाय,
आँसू झलकते शिशिर जैसे
दुख की रात बिताय।
उगतीं कितनी कँटीली लतायें,
फूल - पत्ती ढकती—

गुप्त गहरे दर्दों भीतर
जड़ें जमाये रहतीं।
जीवन की विफल साधें जितनी
पनपाती हैं गान।
रचे मरीचिका, सो तृप्ति,
तृष्णा रुलाये प्राण।
तोड़ लाया हूँ डगर प्रांत में
मर्म कुसुम मम–
आते जाते पथिक, चले जाते लिए
स्मरण चिह्न सम।
कोई फूल झरेगा दो ही दिन में,
तो कोई बचा रहेगा -
छोटा भी कोई फूल आज की बात
कल के कान कहेगा।

तुम क्यों बंधु, विमुख ऐसे
आँखों में कठोर हँसी।
जोर से फुफकारे मानों दूर से
उपेक्षा राशि राशि—
कठोर वचन अधर से ढारें
परिहास हलाहल,
कलम-नोंक से भस्म करती
घृणा-शिखा उठे जल।
खिले दिल में प्यार भरा जो कुछ,
लगे वो सबको भला,
जो ज्योति हरे मेरा अन्धकार
सबको दे वो उजाला—
अन्तर में हैं सभी समान,
भेद बाहरी भव में,
एक के कष्ट करुणा बहा के
ढाढ़स बोते सब में।
सोच यही बड़े प्रेम से मैंने
दिया था यों उपहार—

भला न लगे तो, फेक चले जाओ
क्यों परेशान बेकार ?
तुम्हें भी अगर कुछ देना हो
दे दो न भाई लाकर।
पाकर प्रेम सब पास आयेंगे
तुझे ही अपना कर।
पर लो समझ प्रकाश कभी भी
होता नहीं छाया बिना,
घृणा से भी कुछ आ सकते हैं
तू नहीं करना घृणा !
इतना कोमल मनुष्य मन
ऐसे ही परबश,
दुखाना उसे निष्ठुर वाणों से
देता नहीं कोई यश।

तीक्ष्ण हँसी से निकले शोणित,
बातों से अश्रु उठे,
नयन कोर की तिरछी छुरी से
मर्म तन्तु कटे।

सहज नहीं है ढाढ़स देना,
देना होता पूरा प्राण,
मानव मन का अनल बुझाना
अपना ही वलिदान।
जल मरे घृणा अपने विष से,
जिए नहीं चिरदिन।
गर चाहो अमर होना तो जानो
प्रेम ही मृत्यु हीन।
तुम न रहोगे, मैं न रहूँगा,
भव में दो दिन बाद—
हृदय खोल गर दे सको प्रेम
रहेगा वही आबाद

दुर्बल हम, किती-भूल करें,
अधूरे ही सब काज।
समझ अपनी क्षुद्र क्षमता
खुद ही लगती लाज।
न करूँ अतः जो कर भी सकूँ ?
भू में निष्फल हूँगा ?
खिले प्रेम फूल, छोटे कहकर
सबको नहीं बाँटूगा ?
असुन्दर फूलों को ही शायद,
रक्खा सबके आगे—
चलते चलते पल में किसीको
गल्ती से भला लगे।

गल्ती तो किते दिनों की गल्ती !
दो दिन में सुधरेगी ।
तेरी ऐसी पैनी-सी बातें
क्या ये अमर रहेंगी ?

२४ ज्येष्ठ, १८८८]

•

२२

कवि के प्रति निवेदन

यहाँ पर क्यों खड़े हो कवि,
मानो कठपुतले की छवि ?
चारो ओर लोग जन सर्वदा आवागमन
नभ में उगे प्रखर रवि ।

कहाँ तेरा विजन भवन,
कहाँ तेरा मानस भुवन
तुमको छेक अकेल कहाँ खेलते वे खेल
कल्पना, मुक्त पवन ?

निखिल का आनन्द धाम
कहाँ वह गहन विराम ?
जगत के गीत सब कैसे सुनोगे अब
सुन रहे अपना ही नाम ।

नभ पाखी रहे कविवर
क्यों पकड़ाये धरती पर
शाबाश ! सभी कहते जो कुछ भी पढ़ा देते
उसको ही दुहराते पढ़।

सुबह की रोशनी के साथ
उभरता नभ से प्रभात
साथ लिए नव प्राण झरता न कोई गान
इस ऊँची आँख जग-माथ।

रास्तों से आता कलरव
'गाओ गाओ' कह रहे सब
सोचो, सो समय नहीं गीत गाओ, गाओ सही
प्राण चाहते रुकना जब।

भगेंगे सभी रुकने पर,
कैसा होगा सो अवसर।
उच्च आसन लीन प्राणहीन, गानहीन
दीखोगे पुतला-सा होकर।

थकान छिपाते हो भय से
गला सूखता अन्दर से
सुन के जो चले जाते कहके दो मीठी बातें
चाहते वे तुझे क्या प्यार से ?

कितने मुखौटे लगाते,
सबका परितोश जँचाते
झूठी हँसी हंसते हो झूठे आँसू पोंछते हो
तो भी वे बहु दोष बताते।

मंद हैं कुछ कहते
कुछ हैं निन्दा करते
लगातार इसीलिए कितने तर्क दिये
नाहक ही क्रोध में मरते।

मूर्ख, दर्प भरी देह
करती जाती तुमको स्नेह
हाथ से ठोंकते पीठ बातें बोलें मीठ मीठ
देते तो शाबाशी करें स्नेह ?

हाय कवि, बहु देश चल–
आये कैसे भदेश भल !
यह शोर गुल मरु नहीं छाया, नहीं तरु
भरो यश किरणों से जल।

देखो, वहाँ नदी - पर्वत
बाधा हीन असीम का पथ
प्रकृति शान्त धीर दौड़ती नभ चीर
अपने ग्रह तारों के रथ।

अपने कामों से सब धाएँ
मुड़ बगल देख न पाएँ
खिली चर हसीन-सी चिर मधु सनी हँसी
अपने को ही देख न पाये।

देखो वहाँ स्वयं अकेले
तारे गिन गिन नभ हेरे
गहन निशीथ अरे जागा कोई काम करे
वो आवाज नहीं पहुँचेरे।

देखो वहाँ नया वो जगत्–
वे कौन खुद-खोये वत्
यश - अपयश - मान कुछ नहीं पहचान
रचें सुदूर भविष्यत्।

वह देखो बिन पूजे आस
भरण किया किसको ग्रास
गुजर न पाई रात हो गया उल्का पात
छोड़ा नहीं कोई इतिहास।

वे कौन गिरिसम जन
अपने में ही हैं विजन—
हृदय से स्रोत बहे गुप्त आलय ढहे
दूर - दूर करता मगन।

वे कौन पड़े हैं दूर
भावना उदय गिरि पुर
अरुण प्रकाश आता नभ में भरता जाता
हर रोज नया - नया सुर।

उठता वहाँ नया तपन
बह रहा वहाँ से पवन
वहाँ चिर प्रेमवान नई आशा, नये गान
असीम विराम निकेतन।
वहाँ मानव की जय उठती जगत्मय
मिलें वहीं नर - नारायण।

तुम्हें क्या शोभे कवियार
शोरगुल व धूल मँझार!

२५ ज्येष्ठ, १८८८

•

२३
परित्यक्त

बंधु,

याद है वह उम्र शुरू की
नवीन बँगला भाषा
पा रही थी जीवन तेरी जुबानी
देती नई-नई आशा।

अँजोर किरणें प्रति पल-पल
ज्यों ज्यादा जग उठतीं,
बंग हृदय उन्मोचती ज्यों
रक्त-कोई खिलाती।
पूर्व गगन में प्रतिदिन ही
रहता अकेले देख,
कब तक खिलेंगे तुम लोगों की
कलमों के लाल लेख।
तुम्हारे ही वे सुबह अँजोर
पुराने अँधेरे नाश
देंगे नई नई जमती आखों में
नये जगत की आस।

जाग अचानक, एक दिन देखा
प्राण मन को अपने–
जगी जिन्दगी वक्षस्थल में
लगी परस बपने।
धन्य हो गया मानव जन्म,
धन्य तरुण प्राण–
महत् आस में बढ़ गया दिल,
छिड़े हर्ष के गान।
खड़ा हुआ जो धरती तल पर
मिट गई डर-लाज,
समझ गया इस जग में है
मेरे लिए भी सुकाज।
कहा स्वदेश से सुबह खड़ा हो
कर जोड़े सरे आम,
"यह लो, माता, मम चिरजीवन
सौंपूं तिहारे काम।"

आया बंधु, तेरी ही बातें सुन
बाहर में यह दीन।

कँटीले पथ पर उसी दिन से
चलता हूँ दिन गिन।
मिले पग पग घृणा व निन्दा
क्षुद्र अत्याचार,
बिछड़ गये सब एकेक कर
रहे जो अपने यार।
नयन गड़ाये ध्रुवतारा पर
राह पकड़े चलता,
जो कुछ भी समझा सत्य जान
वही पालन करता।

कहाँ गया वह सुबह का गाना,
कहाँ गई वह आशा!
आज हे बन्धु तिहारे मुख में
कौन सी यह भाषा
कहते हो आज "चुप रहो, भाई,
रहा जो वही भला ओ!
जो होनहार है अपने होगा
क्यों प्रकाश चमकाओ।"
रखी हैं तुमने पोंछ कलम
बंद किये हो गान,
सहसा सभी बन गये पुराने
जी भर हो सावधान!
आनंद से जो चलना चाहते
तोड़ते झूठ का पाश,
घर बैठे हो करते उनको
व्यंग व परिहास।
लाके इतनी दूर, पलट खड़े
कठोर हँसी हँसते,
चिर जीवन का प्रियतम व्रत
तोड़वा देना चाहते।

लाये तुम्हीं लोग प्राण प्रवाह
तोड़े मिट्टी के डाँड़,
तुम्हीं लाते हो बंग में फिर
काल की उल्टी बाढ़।
अपना जीवन घोल के जिनकी
रचना खुद किये हो
हँसते हँसते आज उन्हीं को
कैसे तोड़ रहे हो।
भला वही तब, काम नहीं अब,
चलो फिर, फिर चलें–
घर में बैठ जीवन - आवेग
खुद ही हजम करें।
शहनाई बजा बखरी में लायें
आठ बरस की वधू,
शैशव कली मसल बाहर
करें जवानी की मधु!
उभरते नव जीवन के सर
लादें शास्त्र का भार
जीर्ण युगों की धूल में उनको
सान करें एकाकार!

विफल प्रयास ये तेरे, बन्धु
अब क्या फिरना चाह?
क्या वापस जाता गुफा शिखर में
सरिता जल प्रवाह?
चख लिया अब तो जीवन-स्वाद
शुरू किया है काज
फिर से कैसे करूँगा प्रवेश
मृत वर्षों के माँझ?
नई वह आशा नहीं अगरचे
चलूंगा इसी पथ से-

सुन न सकूंगा आशिष-वचन
तुम लोगों के मुख से।
तुम्हीं लोगों के उन्हीं दिलों से
नई प्रेरणा लेकर
वही दिलासा वाणी नहीं आयेगी
अब हर पग पर।
सैकड़ों दिलों के मिले उत्साह
न सकेंगे मुझे मना,
अपने बल पर चलना होगा
अपनी डगर बना।
खोजूंगा गगन में, हाय, कहाँ वो
पुराना शुक्र वा तारा!
तेरे मुख पर भृकुटि कुटिल
सफेद नयन तारा।
बस, बीच बीच में सुन पाऊँगा
खिल्ली उड़ाती हँसी,
आ घाव करेगा थके हृदय में
कटु बचनों का असि।
क्या करेगी उल्टी धारा उसका
कोई डर नहीं जिसे!
तेरी ही शिक्षा करेगी रक्षा
तेरे वाक्यानल से।

२८ ज्येष्ठ १८८८]

•

२४

भैरवी गान

ओहे, मूर्ति उदास बने तू कौन
विषाद शांत शोभा में !
अब मत गाओ वह भैरवी उषा
आभा में–
मेरे घर छूटे इस पथिक-परान
जवान दिल को लुभाने।

वह मन उदासीन वह आशाहीन
वह भाषाहीन कूजन,
वह व्याकुल गूंज करती मेरा जीना
बिमन।
देती पैरों में बाँध, प्रेम बाहु-पाश
अश्रु कोमल साँकल
हाय, लगता बेकार जीवन का व्रत
छलावा लगता सकल।

आया जिसे छोड़कर, उसे होता मन
जा देख आये शेष बार।
वह रोती है मानो बिखेरे आकुल
केश-भार।
घर बैठे जो सजल नयन मुख
याद पड़ते बार - बार।

यह संकट भरा कर्म जीवन
मरु लगता ज्यों पसरा।

दूर मायापुर में देते दैत्य सदा
पहरा।
तब लौटना भला उनके ही यहाँ
जो करते मेरा आसरा।

छाये में बैठे उसी, सारे दिन मान
तरु मरमर पवन,
वही मुकुल - आकुल बकुल कुंज-
भवन,
वही कुहू कुहरित बिरह रोदन
रह - रह भरे श्रवण।

वही चिर कल तान उदार गंगा
बहे अँधेरे उजाले में,
उसी किनारे चिर खेलवाड़ बालिका-
बालकों में-
सारी देह ज्यों धीरे-धीरे मुंदती आती
स्वप्न खग पलकों में।

हाय, जो अतृप्त महत् वासनायें
गुप्त मर्म दाहिनी,
अपने ही झंझार जो नीरस जीवन
वाहिनी!
उस भैरवी से ही गूँथ टाँक कर
रचूँगा निराशा-काहिनी।

सदा करुण कण्ठ से रो रो जायेंगे-
"न हुआ, न होगा कुछ भी।
सदा न रहेगा इस मायावी भव में,
कुछ भी।
कोई भारी-भारी व्रत जीवन के सभी
क्या धूल से उठायेगा भी?

"इस संशय बीच जाऊँ भी किधर
मरूँ किसके लिए खटके ?
मरूँ मैं किसके दुःख में झूठे छाती
पीट के ?
भव में सत् असत् को किसने बाँटा,
कौन मतों से लिपट के ?

"गर काम करना हो, तो कमी है क्या ?
कर भी सकूँगा अकेले !
चाहे शिशिर विन्दु जगत पिपासा
हर ले !
काहे अकूल सागर जीवन सौंपूं
जीर्ण तरी में अकेले !

"फिर देखूंगा, गिरतो जवानी सुख की
कुसुम जैसे झरती,
हाय, बसन्त बयार गई बेकार
हाँफती,
वहीं जहाँ दुनियाँ थी किसी समय में
आज भी वहीं वो रहती !

"बस मेरा ही जीवन मरा झुराकर
चिरजीवन की प्यास में।
यह जला खाक दिल, दिन गिने किस
आस में !
वह बड़ी - बड़ी आँखें, सरस अधर
चले गये वे किधर में।"

ओहे, रुको, दे दी विदाई जिसे तुमने
जो भी करो उसे न पावो।
अब वह अश्रु सजल भैरवी
मत गाओ।
आज पहली सुबह की डगर पर
नयन - भाप मत छाओ।

वह कुहुक रागिनी अभी ही क्यों आई
करे राही प्राण विवश !
अभी तो मिलेगा पथ में तपता खर
दिवस ।
पथ में उस निशाचरी तम निशि का
पता नहीं कहाँ निवास ।

रुको, बस एक बार पुकारूँ उनको
नव जीवन भर कर–
यह संसार तरूँगा बल जिनका
पाकर,
सभी महत् जनों मानव गुरुओं के
पद-छापों पे चलकर ।

जाओ पास उनके जो पड़े हैं घर
बाँधे प्राणों में पत्थर,
गाओ उनके जीवन, उनके दर्द
रोकर ।
बहें आसुओं में पड़े जमीन पर वे
अपनी साध दबाकर ।

फिर भी, हाय, जो प्राण उठना चाहते
वे भी नहीं उठ सकते ।
सभी ललितकला की डोरी तोड़ नहीं
सकते ।
राह जानते हुए भी सभी रात दिन
राह बगल ही लोटते ।

सभी करेंगे भोग आलस का दर्द
अलस रागिनी गाकर,
दूर प्रकाश ओर देखेंगे तल्लीन
होकर ।
उसी मधुर रुदन में बह जायेंगे
रात दिन भी बहाकर ।

गानों में अपने ही अपने गलकर
खुद अपने को भूलेंगे,
स्नेह से निजदेह पर, कर करुण
फेरेंगे।
डाल जीवन को सुख की कोमल सेज
नींद का झुलुवा झूलेंगे।

अरे, भला इससे तो कठोर आघात,
तेज दहकनें सहना।
चल जिंदगी भर पत्थर तर
रहना।
गर मृत्यु तक पहुँचाये डगर,
सुखद होगा वो मरना।

२९ ज्येष्ठ १८८८

•

२५
धर्म प्रचार

[कलकत्ते के एक घर में]

वह सुनो विशु भाई,
'जय ईसा' ध्वनि आई!
कैसे सहें यह नाम भला है!
हम जो आर्य भाई!

कच्छ, कलि, स्कंद
अब तो कर दो बंद।
भजें गर ईसा, मिटे भारत से
पुराणों की नाम-गन्ध !

भाई, वह देखो तनि—
याज्ञवल्क्य मुनि,
विष्णु, हारीत, नारद, अत्रि
रो रो बनें थोर-दिनी।

कहाँ रहा अब कर्म,
कहाँ सनातन धर्म !
जो भी हो, अब सुनते कुछ कुछ
बेद - पुरान के मर्म !

उठो उठो भाई, आओ,
मन में ही गुस्साओ !
आर्य - शास्त्र उद्धार लागि,
कस कमर आ जाओ।

लो धोती पिछोटा कस,
लो हाथ में लाठी बस।
हिन्दू धर्म करेंगे रक्षा
क्रिस्तानी का ध्वंस।

कहाँ गया, भाई भजा ?
हिन्दू धर्म ध्वजा ?
था तो साँड़ वही, अगर वो होता
चखाता कितना मजा !

आओ मोना, आओ भूतो,
डालो गोड़ बूट जूतों।
गोरा पादरी के पाँव कुचल दो
गर पाओ कोई छू तो।

पहले मजाकी ताली,
बाद में दो फिर गाली।
पिल पड़ो गर कुछ नहि बोले
बीस - पचीस बंगाली।

तू आगे चल अँकड़,
मैं टोपी लूँ झपट।
गड़बड़ कर पाँचों जने मिल
झट से देंगे पटक।

कैंची से सारे बाल
कतरेंगे देख भाल।
तोड़ कर कोट के सभी बटन
बना देंगे फटे हाल।

उठो सभी, तब यार—
घूसा तान तैयार।
देखो भाई, गल्ती न होने पावे
कुछ लाठी लो सँभाल

[सरदार की सीटी और गाना]

प्राण सखी रे,
किससे कहूँ मन-बसी रे !

[कमर में चादर बाँधे, हाथ में लाठी लिए, बड़े उत्साह के साथ सबका प्रस्थान। रास्ते में विशु, हारु, भोना और भूतों का समागम। गेरुआ कपड़ों में ढके, खाली पैर, मुक्ति फौज के प्रचारक।]

धन्य धन्य हो प्रेम तिहारो,
धन्य तिहारो नाम,
होवे उदय फिर से दुनियाँ में
नवीन जेरुसलाम।

धरती से होवे विदा, द्वेष घृणा
निष्ठुरता हो दूर—
पोंछो, हे प्रभुजी! सबके नयन
मिटे मरन दुख क्रूर।
प्यासे जो भी, उन्हें संजीवनी
कर दो अपनी दान।
दयामय ईसा, दया से अपनी
पापी जन करो त्राण।

"विशु! यह कौन रे'
जूते इसके कहाँ रे!
गोरा तो है, पर होता भरोसा
गेरुआ पहना जो रे।"

"हारु! अब गोड़ चला
पूछ, कौन? बतला!
छोड़ो बक बक, भूख लगी है?
दे दो न कुछ केले ला!"

बधिर निदय कठोर हृदय
प्रभु! इसे गोद ले लो।
मैं अक्षम क्या कर सकता
"बोलो हरि, हरि बोलो।"

"छोड़ो हे तेरा खृष्ट!
तुरत दिखाओ पीठ!
दाँड़ पर चढ़ो पढ़ो भाई पढ़ो
हरे राम, हरे कृष्ण!"

तुम जो सहे हो, याद में उसकी
सहूँगा जो कुछ क्लेश,
वहन करूँगा क्रास वह भारी—
"भला, भला, भई बेश!"

दो व्यथा, घुले गर कोई पाप रे
इन आँखों के जल से।
दूँगा प्राण, पापी जीवन सुधरे
अगर इस दान से।

छोड़ा अपना देश, अपने जन—
बन गया भव - त्यागी।
छोड़े जाय सब प्रेम हृदय का
तुम्हारे प्रेम लागि।

सभ्यता, सुख, रमनी का प्रेम,
स्वजन आलिंगन—
सब फेंक फाँक तेरा महाव्रत
गह लिया तन मन।

अब तक सका न उनको भूल
कभी कभी याद आती—
चिर जीवन की खुशियाँ मुझको
उसी भवन ले जातीं।

तब तुम्हारा लहूलुहान - सा
मुख मंडल चेतूं,
उस प्रेम के आगे देश - विदेश
अपने परे बेहेतु

वही प्रेम तुम बाँटो घूम फिर
मेरे दिल के जरिए,
विष देने जो आते हैं उनके
मन में सुधा भरिए।

आ गले मिलें वे लोग जो आये थे
मन में पाप लेकर—
पड़े सुप्रेम का मधुर प्रकाश
रोष भरे मुख पर।

'अब जी नहीं संभले
आर्य खून उबले।'
'अरे हारु, ओ हे माधो, लाठी मारो
कर दो घाव चोटीले !'

'गर तू चाहे कल्याण
बोल कृष्ण भगवान।'
धन्य हो तिहारो नाम
ईसामसीह दयावान !

'तब तो चलाओ लाठी
कसो कटि मारो चाँटी।'
'हिन्दू धर्म की रक्षा होवे
होवे क्रिस्तानी माटी।'

[प्रचारक के सर पर लाठियाँ बरसती हैं। सर फटकर खून बहता है। खून पोंछ कर :]

करें प्रभु मंगल तुम्हारा
दें तुमको शुभ मति।
मैं दीन हीन सेवक उनका
हैं वे जगत् - पति।

अरे शिबू, अरे हारु,
अरे नोनी, अरे चारु;
ऐसे समय क्या देखें तमाशा—
बचेंगे प्राण पखेरू ?

"पुलिस आ रही डंडा उठाये
भागो लगाओ दौड़ !'
'धन्य हो गया आर्यधर्म
धन्य हो गया गौड़।'

[साँस खींचकर सब भागते हैं। घर आकर :]

मारे हैं गोरा! बंग निवासी,
दिए कलंक मिटा।
पुकारो, कहाँ हैं मझली बहू—
पूड़ी कहाँ, कहाँ मीठा!
अभी तक खून उबलता मेरा
उठता है उफन—
गर जल्दी पूड़ी नहीं मिली तो
क्या कर बैठे मन!

पति घर आया लड़ाई लड़के
पूड़ी नहीं तैयार!
क्या यही रिवाज आर्य नारी के
दूँगा सजा मैं यार।
याज्ञवल्क्य अत्रि हारीत
पानी में पियेंगे घोल—
मार पीट कर हिन्दूधर्म
बचाना ही अब मोल।
कहाँ पुराना पातिव्रत धर्म,
सनातन पूड़ी चाट—
वर्ष भर में पाता बस जग
एक जातक का ठाट।

३२ ज्येष्ठ, १८८८

[इस कविता में वर्णित घटना, समाचार-पत्र में प्रकाशित हुई थी।]

२६

नव बंग दम्पति का प्रेमालाप

वर जीवन - जीवन प्रथम मिलन,
तुलना विहीन यह सुख।
आओ, सब भूलें आँख अब खोलें
केवल निहारें दोनों मुख।
मरम - मरम शरम - भरम
जोड़ी क्या ही लगी आज, वाह!
मोह घिरे मानो भूले हैं दोनों,
फूल - मधु पीके भरचाह।
जनम से जल बिरह में भल
खाक से बने थे मेरे प्राण–
तिहारे अपार प्रेम पारावार
आया जुड़ाकर पाने त्राण।
कहो एक बार 'मैं हूँ तोहार
तेरे सिवाय कोई न भाए।'
प्रिये! उठो भला! जाती कहाँ? बला!
[रोते-रोते]

कन्या धाई-माँ के पास, नींद आए!
[दो दिन बाद]

वर क्यों हे प्रिये, रोना पड़े पड़े कोना
क्यों नयनों नोर झरे?
उषा क्या खो देती शुक तारा मोती
इसी से शिशिर पड़े?
बसन्त क्या नहीं तभी बन देवी
व्याकुल बिलाप करे?
क्या उदास यादें रहें तड़पते
आशा कबर पकड़े?

टूटे हुए तारे क्या नभ के सारे
जुदाई गम जताते ?
रोती हो काहे को ?

कन्या
पोसी बिल्ली को
छोड़ आई घर - हाते !

[अन्दर महल के बगीचे में]

वर
क्या करो बाग में श्यामल सेज में
कर के रोशन तरु - देश ?
आयें गालों पर मानो छल कर
उड़ते हुए बिखरे केश।
पद तल छूती कलपती रोती
जाती नदी बही कल - कल
सारे दिन गान सुन वही मान
भर आतीं आँखें छल-छल।
भरे आँचल में मरे मरम में
पड़े हैं क्या ये झूरे फूल ?
मुख किसका है ! याद आता है
गूंथते माला हो जाती भूल !
किसका बचन कहता पवन,
हिलाए जाता जो कनफूल ?
वो गुनगुनाते क्या नाम रटाते
भौंरे जो इतने व्याकुल !
बाग तो निराला, आंख हँसी ढाला,
यादगारों से मन बेकल–
क्या करो कानन कुंज भवन ?

कन्या
खाती पकी बेर टपकल।

वर
आया जब पास मन में जो आस
कहना चाहूं समुच्चय।
अपना वजन अब तो बहन
कर नहीं सकता हृदय।
आज मेरा मन करे पनपन
देख बसन्त मधुमय,

आज मन खोल वायु करे मोल
मालती कली से सविनय।
मानो दोनो आँखें मेरी ओर' ताकें
कहतीं ज्यों कुछ आशामय,
वह दिल टूटे प्रेम मानो छूटे
आधी लाज लिए आधा भय।
तेरे ही खातिर परान आखिर
जागे दिवस - रजनी - मय,
तेरे किस काज सब दे दें आज
उसी लिए ज्यों माँगे अभय।
सारा जग छान क्या-क्या लाऊँ जान!
करके जीव-जवानी क्षय?
बोलो, तेरे लिए क्या करूँ हे प्रिये!

कन्या "तोड़ो कुछ बेर रसमय।"

वर तब जाऊँ प्रिये, निराशा कातर
खाली हाथ मलकर।
मेरे जाने से क्या एक बूंद आँसू
आ गिरेगी झरकर?
बसन्त वायु की माया साँस क्या
दिल में देगी विरह?
जो भी इच्छायें सो रहीं प्राणों में
उठेंगी क्या जगकर?
क्या करोगी प्रिये बिजन बन में
पड़ी विषाद भर के?
कैसे कटेगी बिरह की बेला?

कन्या गुड़िया ब्याह सचा के।

२३, असाढ़, १८८८]

•

२७

गुरु गोविन्द

'बन्धु, लौट जाओ सब घर
अभी कहाँ अवसर—'
रात का अन्त, यमुना का तीर,
गिरिमाला छोटी, बन सुगभीर,
गुरु गोविन्द जी कहें पुकार
सुनें छै अनुचर।

'जाओ रामदास, जाओ हे लेहारी,
साहू, लौटो तुम भी।
मुझे न बुलाओ, लोभ न दिखाओ
काम के सागर बीच न कुदाओ—
रहने दो अभी, बहु दूर पड़ी
जीवन रंग भूमि।

'फेर लिया मुँह, बाँध लिया कान,
छिप गया बन माँझ।
दूर है जन सागर अगाध
लहरो के चिर रुदन निनाद,
पड़ा हूँ विजन में यहाँ मगन
अपने गोपन काज।

'पुकारें मुझे ज्यों इन्सान प्राण
उसी जनालय द्वार।
सोती रजनी में चौंक उठता
'आया, अभी आया', कहता रहता,
झोंकना चाहता, तन मन प्राण
गर्जती जन धार।

'निहार तुम्हें चित चञ्चल,
बेलगाम धाये मन।
लहू - अनल की लपटें उठती
साँप जैसे खेलवाड़ करतीं,
झिड़कती है मानो तलवार
म्यान बीच झन्झन्।

'क्या ही सुखद है! यह घन त्याग
हाथों में विजय तुरी।
झपट पड़ना जन गण माँझ
तोड़ना गढ़ना राजा और राज,
अत्याचार के सीने चढ़ कर
घोंप देना तेज छुरी।

'घोड़े की तरह अन्धी नियति,
बाँध उसे कस कर
हाथ में अपने पकड़ लगाम
बाधा विपदों पर लगा छलाँग
फेरें उसे प्रतिकूल घटना से
मन चाहे पथ पर।

'सामने जो आते, कुछ हट जाते,
गिर जाते कुछ भूमि।
दो भाग बाधायें हो जातीं भिन्न,
छूट जाते पीछे पावों के चिह्न,
गगन की आँखें करता खिन्न
प्रलय आग का धूम।

'मृत्यु लाँघते सैकड़ों बार
गिरता जीवन पार।
गगन छोर के अपलक तारे
डगर दिखाते रात अन्हारे,
जम प्रवाह हो हो के गुंफित
गर्जते दोनो धार।

'कभी अमा रात नीरव निविड़,
खर कभी फिर दिन।
कभी चारों ओर गगन में घेर
वज्र छिपाये जुटें घन ढेर,
फिर कभी अंधड़ सिर पर
टूटे पड़े माया हीन।

'आजा, आजा' कह के बुलायें सब
दौड़ते आएँ जुट।
झट खुलते सभी घरों के द्वार,
टूट निकलते सारे परिवार,
धन दौलत माया ममता के
जाते बंधन टूट।

'सिंधु बीच मिल जाता जैसे
पाँचो नदियों का जल,
सुन पुकार कोई नहिं सकता,
खुले दिलों से आ मुझसे मिलता,
उठा है जाग सारे पंजाब
उन्माद कोलाहल।

'जाता कहाँ कायर, आड़े छिपने
आवाज पहुँचे मेरी।
सुबह में सुनकर 'आजा आजा'
काम-काजी लोग भूलें सब काजा,
सुन निशीथ में 'आओ सभी आओ'
टूटती नींद गहरी।

'आगे बढ़ें ज्यों ज्यों, जुटें लोग त्यों त्यों
भर जाते घाट बाट।
भूल कर सब जाति अभिमान,
करते निछावर अपने प्राण
मान अपमान हो जाते समान
बाभन और जाट।

'रहने दो भाई, क्यों यह सपना–
अभी भी नहीं समय।
अभी तो लम्बी रात जन हीन
जागना पड़ेगा पल गिन गिन
आँखें अपलक पूर्व दिशा में
देखने सूर्योदय।

'अभी भी विहार कल्प जग में,
अरण्य राजधानी–
अभी केवल नीरव भावनायें,
कर्महीन विजन साधनायें,
बस दिन रात सुनो चुपचाप
अपनी मर्म वाणी।

'फिरूँ अकेले यमुना तीर तभी
अगम पहाड़ों बीच।
पाल रही है पर्वत-गोद,
संगीत सिखाते कल कल स्रोत,
बना रहे हैं मन अपने ही,
कर्म अपने सोच।

'बारह वर्ष कटे ऐसे ही,
कितने लगेंगे अभी!
चारों तरफ से अमर जीवन
बूंद बूंद करते हैं हरण
अपने अन्दर अपने को क्या
पूर्ण पायेंगे कभी!

'कह सकेंगे कब खुले मन से—
पा गये अपना शेष।
तुम लोग सभी चलो पीछे मेरे,
बाहे गुरु तुम सबको पुकारें,
मेरे जीवन से जीवन लेकर
जाग उठो सारा देश!

'अब नहिं भय, नहीं संशय
आगे पीछे अब नहीं।
पाया हूँ सत्य मिला है पथ,
ओझलें होता सकल जगत्—
उसके सामने जीवन मरण
किसी का मूल्य नहीं।'

'दिल अन्दर सुनाई पड़ता
देववचन के न्याय—
उठो खड़े हो अंजोर में अपने,
देखो दूर वे लोग आते कितने
खुद को बाँधने तुम्हारे पास
बना बना समुदाय।

'सुनो सुनो वह कल कल्लोल
आती वो दिलों की बाढ़।
स्थिर रहो तुम और सजाग
प्रदीप समान ही आलस त्याग
तुम भी गर सोये इस निशीथ
वे लौटेंगे बेकार।

'देखो जरा उस दिगन्त ओर
क्या घोर घटायें छातीं!
आ रहा झंझा मरण लय में—
बैठे तभी तो हिया आलय में
जलाऊँ दिए, जो बुझें न झड़ में
दें सबको चिर ज्योति।

जाओ तब साहू, जाओ राम दास
लौटो हे सखा गण।
चलो देखें तब जाने के समय
बोलें मिलकर 'गुरुजी की जय'
दोनों हाथ उठा बोलो 'जय जय
अलख निरंजन।'

२९ ज्येष्ठ, १८८८]

•

२८

निष्फल उपहार

नीचे बहता भँवर खा यमुना जल–
दोनों ओर पहाड़ हैं ऊँचे शिला तल।
सँकरी गुफा राहों में फँसी जल धारें
उन्मत्त प्रलाप बकें, गर्जें, ललकारें।

बिखेरे बक्र जटिल झरनों की वेणी
नीलाभ दिकों में धायें नील गिरि श्रेणी।
खड़ी रहें रात दिन तो भी मानो चलें–
अचल साँकल से बँधो, जैसे टहलें।

यहाँ वहाँ साल-ताड़ों को खड़ा रख . के,
बुलाता गिरि मेघों को इशारा करके।
तृण हीन सुकठोर शत दीर्ण धरा,
कँटीला बनैला पीले - पीले फूलों भरा।

देती है ताप दिवस का धरा लौटाये–
खड़ा रहता है गिरि अपने ही साये।
पथ हीन, जन हीन, ध्वनि शब्द हीन
डूब रहा रवि जैसे डूब प्रति दिन।

रघुनाथ जब आये यहाँ ऊँचे टीला
सिक्ख गुरु पढ़ते थे भगवत लीला।
रघु बोले पद उनके नमन कर,
आया है प्रभु दीन, हीन भेंट लेकर।

दोनों हाथ बढ़ा गुरु ने जाँचा कुशल
आसीस दिया हाथों से सर को छूकर।
मोती - मणियों से जड़ा कंगन का जोड़ा
दे गुरु पद रघु ने दोनों हाथ जोड़ा।

जमीन पर से कंगन को उठाकर,
देखने लगे प्रभु जी घुमा घुमाकर।
कुशाग्र हीरों के मुँह घूमें बार-बार,
करते रहें किरण छूरियों से वार।

मुस्कुरा कर गुरु रख दिए कंगन,
मगन हुए पढ़ने में लीला कीर्तन।
सहसा शिला पर से गिरा एक बाला
क्षण में लीला उसे यमुना जल काला।

'हाय रे हाय!' चीत्कार उठे रघुनाथ
कूद पड़े जल में बढ़ाये दोनों हाथ।
आग्रह भरे उनके प्राण - मन - काय
सब हाथ बने मानो पकड़ने जाँय।

गुरु बिना एक बार भी उठाये मुख,
लेते रहे अकेले निर्मल पाठ सुख।
काला जल कटाक्ष कर नाचे भँवरी,
हो रही हो ज्यों छल भरी चोरी गहरी।

चला गया दिन का उजाला आई शाम,
यमुना छान डाले, तो भी बना न काम।
भींगे वस्त्र खाली हाथ थके नत सिर
गुरु पास रघुनाथ, लौट आये फिर।

'अभी भी ला सकता हूँ' हाथ जोड़ बोला
अगर बतला दे 'कहाँ है वह बाला'।
दूसरा कंगन भी फेंक उसी जल में
गुरु ने कहा 'वहीं तो है नदी तल में।'

२७ ज्येष्ठ १८८८]